आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

साहित्य-चिन्तन एवं समीक्षा-दृष्टि

डॉ० जगदीश शर्मा
हिंदी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय
तथा
डॉ० रमाकान्त शर्मा
हिंदी विभाग
राजकीय महाविद्यालय
सिरोही

किताब महल

प्रथम संस्करण १९८६

मुख्य वितरक

१ किताब महल एजेन्सीज
८४, के० पी० कक्कड़ रोड,
इलाहाबाद–३

२ किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स,
२८, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली–२

३ किताब महल एजेन्सीज,
अशोक राजपथ, पटना–४

४ किताब महल एजेन्सीज,
मनोज बिल्डिंग सेण्ट्रल बाजार रोड,
रामदास पेठ, नागपुर–१०

मूल्य पच्चीस रुपये

प्रकाशक किताब महल, १५ थार्नहिल रोड, इलाहाबाद
मुद्रक सुभाष प्रिंटर्स, १५ नेवादा सी०एस०पी० सिंह मार्ग, इलाहाबाद

अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड)

प्राक्कथन

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी आलोचना का विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पहले से माना जा सकता है, किन्तु उसे गति शुक्लजी ने ही दी। साहित्य के सम्बन्ध में उनकी अपनी एक दृष्टि थी। उनके साहित्य सम्बन्धी मन्तव्य एक गहरे आत्मविश्वास और अपूर्व दृढ़ता से सम्पन्न हैं। इसीलिए शुक्लजी के साहित्यालोचन में उनके आग्रह दुराव रहित दिखलाई देते हैं, लेकिन वे आग्रह उनकी साहित्य समालोचना का सर्वस्व नहीं हैं। साहित्यानुशीलन का एक संश्लिष्ट अभिगम हमें शुक्लजी ने दिया है। इस अभिगम का वैशिष्ट्य यह है कि यह साहित्य को जीवन सम्बद्ध मानने का आग्रह रखते हुए भी उसकी साहित्यिक मूल्यवत्ता के प्रति समर्पित रहा है। शुक्लजी के बाद हिन्दी आलोचना में एकाधिक प्रकार से जो एकांगिता पनपी उससे शुक्लजी मुक्त थे।

परवर्ती आलोचकों ने अपने अपने दृष्टिकोण का समर्थन जुटाने के लिए शुक्लजी की साहित्य दृष्टि की जो व्याख्याएँ की हैं उनसे उनके मत की संश्लिष्टता खंडित हुई है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके साहित्य चिन्तन और समीक्षा दृष्टि की उस संश्लिष्टता को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तक के अंतिम दो लेख डा० रमाकांत शर्मा द्वारा लिखे गए हैं। शेष लेख मेरे हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व अपने ऊपर लेकर किताब महल, इलाहाबाद ने हम दोनों लेखकों को चिन्तामुक्त किया, इसके लिए मैं दोनों की ओर से किताब महल के स्वत्वाधिकारी श्री इन्द्रेश कुमार अग्रवाल तथा उनके साहित्य-सलाहकार श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

२८ मई, १९८५ — जगदीश शर्मा

क्रम

अध्याय १

साहित्य-चिन्तन का विकास

साहित्य के संबंध में आचार्य शुक्ल १९०१ ई० से १९३९ ई० तक निरंतर सोचते विचारते रहे। उनके इस सोच-विचार को उनकी अध्ययनशीलता से नये-नये आयाम भी मिलते रहे। यही कारण है कि उन्होंने जहां से प्रस्थान किया और जहां वे पहुँचे, उसके बीच निरंतरता बनी रहने पर भी यह लगता है कि उन्होंने एक लम्बी चिंतन-यात्रा तय की थी। उनके आगे बढ़ते जाने के क्रम को यदि ध्यान से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि शुक्लजी के साहित्य-चिंतन का विकास एक निश्चित दिशा में हुआ है।

शुक्लजी के 'कविता क्या है' शीर्षक लेख का पहला रूप १९०९ में सरस्वती में प्रकाशित हुआ था, १९२२ में उसके आरम्भ में उन्होंने एक नया अंश जोड़ा और १९२९ में उसमें बहुत परिवर्तन कर एक लगभग नया ही लेख तैयार कर दिया। 'कविता क्या है' के इन तीनों संस्करणों की यदि तुलना की जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस दौरान काव्य के संबंध में अनेक नये विचारबिंदु शुक्लजी के सामने आए हैं जिनसे उनकी काव्य चेतना के नये आयाम उद्घाटित होने के साथ ही उन अनेक बातों में भी संशोधन हुआ है जिनको उनके काव्य-चिन्तन के आरम्भिक काल में प्रमुखता मिली थी। बाद के अनेक लेखों में काव्य के विषय में भले ही समग्रत विचार न किया गया हो, फिर भी विचार के नये मुद्दे निरंतर सामने आते रहे और विचारणीय समस्याओं में परिवर्तन के साथ नये सरोकारों के समावेश ने उनके अवधान का केंद्र बदल दिया।

कविता क्या है शीर्षक से लिखे गए पहले लेख का स्वर उपयोगितावादी है। इस लेख के पहले ही वाक्य में कविता की सार्थकता 'मनुष्य भाव की रक्षा' में मानी गई है। यद्यपि आगे चलकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य-भाव या मनुष्यता की रक्षा के संबंध में शुक्लजी की परिकल्पना नितान्त नैतिक न होकर सौंदर्यपरक भी है, फिर भी कविता को मनुष्य भाव की रक्षा का साधन मानने से उसकी उपयोगिता की

भावना प्राप्त होती है। कविता का विकास की सामग्री मानने का निषेध करते हुए शुक्लजी ने इस प्रसंग में लिखा है कि महान कवियों की रचनाओं से मनोरंजन होगा तो चरित्र संशोधन भी अवश्य ही होगा।[1] उनकी मान्यता है कि "चरित्र चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है, उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं।'[2] यह इसलिए कि 'हृदया को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने का सामर्थ्य काव्य में ही है।[3] इस तरह से शुक्लजी ने कविता को इस सीमा तक एक उपयोगी वस्तु माना है कि वे उसे 'ओषधि' तक कह गए हैं।[4]

फिर भी शुक्लजी ने काव्य का प्रयोजन 'मनुष्य भाव' की रक्षा मानकर मनुष्य को संवेदनाशून्य होने से बचाने में उसकी भूमिका रेखांकित की है। संवेदनाशून्यता का जो उदाहरण शुक्लजी ने इस प्रसंग में दिया है, उससे स्पष्ट है कि 'मनुष्य भाव' की रक्षा से उनका आशय सहृदयता की रक्षा भी है। यह उदाहरण किसी उपन्यास के एक प्रसंग का है जिसमें अपने पुत्र द्वारा अपनी रूपवती पत्नी को घर से निकाले जाने का विरोध किया जाने पर एक बनिया कहता है चल चल, भोली सूरत पर मरा जाता है। इस पर टिप्पणी करते हुए शुक्लजी ने लिखा है "आह! कैसा अमानुषिक बर्ताव है! सांसारिक बंधनों में फंसकर मनुष्य का हृदय इतना कठोर और कुंठित हो जाता है कि उसकी चेतनता—उसका मानुष भाव—कम हो जाता है। न उसे किसी का रूप माधुर्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है, न उसे किसी दीन दुखिया की पीड़ा देखकर करुणा आती है न उसे अपमानसूचक बात सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोमहर्षक अत्याचार की बात कही जाए तो, मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार, वे रोष या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ यही कहेंगे, जाने दो हम से क्या मतलब, चलो अपना काम देखो।'[5]

इस टिप्पणी में यह बात बहुत साफ हो जाती है कि अमानुषिक बर्ताव से शुक्लजी का अभिप्राय आत्मकेंद्रित हृदयहीन व्यवहार से है। इस प्रकार के व्यवहार की प्रेरक मनोवृत्ति को उन्होंने महाभयानक मानसिक रोग की संज्ञा देते हुए यह माना है कि कविता इसी मरज की दवा है।[6] इस उक्ति में यह निहित है कि

---

१ चिंतामणि भाग ३, पृ० ९३
२ वही, पृ० ९३
३ वही पृ० ९२
४ वही, पृ० ९४
५ चिंतामणि, भाग ३, पृ० ९४
६ वही, पृ० ९४

मानसिक रूप से स्वस्थ होने का अर्थ सहृदय होना है। सहृदयता मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और सहृदयता में सौन्दर्यानुरक्ति तथा लोकसम्पृक्ति दोनों अंतर्भूत हैं।

लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि इस लेख में कविता को स्थूल रूप से उपयोगी कतई नहीं माना गया है। इस लेख में कविता को चरित्र की शिक्षा देने और कार्य में प्रवृत्ति बढ़ाने का साधन भी बतलाया गया है। इसके साथ ही कल्पना की चर्चा काव्य की प्रभाव शक्ति के स्रोत के रूप में की गई है "सृष्टि के पदार्थ या व्यापार विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करने लगती है, मानो वे पदार्थ या व्यापार विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्तिमान दिखायी देने लगते हैं। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों का प्रवाह जोर से बहने लगता है। तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है।[१]

कल्पना को कविता की प्रभाव शक्ति का स्रोत मानते हुए भी इस लेख में शुक्लजी ने रचना सौन्दर्य की बात न करके सृष्टि सौन्दर्य का ही उल्लेख किया है और भौतिक सौन्दर्य की उपेक्षा न करते हुए भी मानसिक सौन्दर्य पर बल दिया है तथा सौन्दर्य को नैतिक प्रयोजन का साधन माना है 'सदाचार में एक अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य होता है। अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौन्दर्य और माधुर्य दिखाकर लुभाया जाय जिसमें वे बिना आगा-पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें।'[२]

इस लेख में शुक्लजी ने काव्यभाषा के लाक्षणिक सौन्दर्य श्रुति मुखदता और अलंकारों के विषय में भी विचार किया है, किन्तु इस तरह कि मानो वे काव्य के अंतवर्ती घटक न होकर उसके सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्व हों, मानो काव्य में उनकी स्थिति आनुषंगिक हो।

इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस लेख में काव्य पर विचार करते समय उसके प्रभाव-पक्ष को प्रमुखता दी है, रचना-पक्ष को नहीं। प्रश्न चाहे मानुष भाव का हो, चाहे सौन्दर्य का, चाहे नैतिकता का चाहे कल्पना का चाहे भाषा का, चाहे अलंकारों का शुक्लजी का ध्यान काव्य के प्रभाव पक्ष पर प्रायः रहा है।

इस प्रकार प्रस्थान काल में शुक्लजी की दृष्टि में रचना या कवि कर्म का वैसा महत्त्व नहीं रहा है, जैसा उसके मानवीय प्रयोजन का।

'कविता क्या है' शीर्षक लेख के अगले संस्करण (१९) में भी शुक्लजी की दृष्टि उपयोगितावादी रही है, लेकिन उपयोगिता की परिकल्पना पहले की तुलना में

१ चिन्तामणि, भाग ३, पृ० ९१

२ वही, पृ० ९३

सूक्ष्म हो गए हैं। इस संस्करण में भी कविता की रचना प्रक्रिया का (कल्पना) रूप में आरम्भ हुई है और अभी तक शुक्लजी कविता को साधन मानकर ही चल रहे हैं। इस बार कविता का काम 'रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह' बतलाया गया है। यहाँ आकर 'मानुष भाव की रक्षा' का आशय स्पष्ट हो गया है और मनोवेगों को उत्तेजित करने जैसे उद्बोधनात्मक काम से कविता को बचाया गया है। उसके स्थान पर यहाँ शुक्लजी ने कविता द्वारा मनोवेगों के परिष्कार की बात कही है 'वह (कविता) जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का भी उद्योग करती है।'[1] स्पष्ट है कि यहाँ भी कविता की सोद्देश्यता की धारणा बनी रही है, किन्तु उसके स्वरूप में सुधार हुआ है।

इस बीच अध्ययन के विस्तार के फलस्वरूप शुक्लजी कविता का विचार एक नये परिप्रेक्ष्य में करते दिखलाई पड़ते हैं। विकासवादी सिद्धान्त से परिचय हो जाने पर वे मनुष्य के मनोजविक विकास के प्रकाश में कविता को देखने लग थे। इस नये परिप्रेक्ष्य में उन्हें कविता सहृदयता की साधक प्रतीत होने के स्थान पर मनोजैविक विकास के फलस्वरूप आस्वाद्य जान पड़ी। अब कविता मानुष भाव की रक्षा के प्रयोजन का भी अतिक्रमण कर गई। आदिम मानवीय भावों की सृष्टि के साथ प्रकृति और मनुष्य के आदिम साहचर्य के संस्कारों की भी वाहक बनकर वह शुक्लजी के समक्ष आई।

परिवर्तित दृष्टि के अनुसार कविता 'उन मूल और आदिम वृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यंत प्राचीन काल में प्रकट हुई और जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य जाति आदिकाल से करती चली आई है।'[2] स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि में कविता अब मनुष्य के भावों की उत्तेजक और सहृदयता की साधक न रहकर तादात्म्य के अनुभव की विकासलब्ध प्रक्रिया बन गई। शुक्लजी को इस मोड़ पर प्रतीत हुआ कि कविता तादात्म्य की दिशा में प्रयोजित नहीं होती प्रत्युत शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य की आदिम मनोवृत्ति से उद्भूत होने और विकास के भीतर उस संस्कार को वहन करने के फलस्वरूप काव्य की प्रक्रिया में तादात्म्य की प्रवृत्ति अनायास ही अंतर्निहित होती है। कविता से असम्पृक्त रहने वाला मनुष्य तादात्म्य की प्रवृत्ति से अछूता रहकर आत्मकेंद्रित, हृदयहीन और जड़ हो जाने का खतरा मोल लेता है

---

१ आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध (स० सुधाकर पांडेय), पृ० ६६

२ प्रतिनिधि निबंध, पृ० ९१

"रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अपने अंतःकरण के मूल रागात्मक अंश को शेष सृष्टि से किनारे कर ले, तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या संदेह है? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी अमराइयों, पटपर के बीच खड़े झाड़ों को देखकर क्षणभर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दीन-दुखी का आर्तनाद सुन न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा, तो उसके जीवन में रह क्या गया?"[1]

इस लेख में शेष सृष्टि के साथ जिस रागात्मक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है, वह 'मानुष भाव' से आगे की चीज है क्योंकि इसमें प्रकृति वर्णन के साक्षात्कार से उत्पन्न आनंद भी सम्मिलित है। यह रागात्मक सम्बन्ध कविता का उद्दिष्ट न होकर उसका प्रवर्तक धर्म है। इस रूप में कविता का उपयोग यही रह जाता है कि वह सहृदयता को साधती है।

'कविता क्या है' के इस संस्करण में १९०९ वाले संस्करण के समान ही एक उपशीर्षक 'काव्य में प्रवृत्ति' दिया गया है। इस उपशीर्षक के अधीन १९०९ के संस्करण की सामग्री तो रखी ही गई है, आरम्भ में कुछ नये वाक्य भी जोड़े गये हैं जिनमें काव्य की प्रवृत्ति बढ़ाने में कविता की भूमिका की व्याख्या सौन्दर्यानुभूति और आत्मप्रसार के सम्बन्ध से की गई है "कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है, हम सृष्टि सौन्दर्य को देखकर मुग्ध होने लगते हैं हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर संसार में व्याप्त हो गया है। इस प्रकार कविता की प्रेरणा से काव्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है।"[2]

शुक्लजी ने इस लेख में 'रागात्मक सम्बन्ध' का विचार 'रस के रूप में' भी किया है। ऐसा करते समय उन्होंने 'रस' की अवधारणा को नवरस की रूढ़िबद्ध परिकल्पना की संकीर्णता से मुक्त करने की चाह भी प्रकट की है। प्रकृति वर्णन के सौन्दर्य

१ प्रतिनिधि निबंध, पृ० ६५-६६

२ वही, पृ० ६७

के लिए नवरस की परिमिति म अवकाश न होते हुए भी शुक्लजी ने उसमे रस मानने का आग्रह किया है। उनका कहना है कि हिन्दी वाला ने "रस की नौ नालियों के भीतर ऐसे शुद्ध वर्णन के लिए कोई गड्ढा न पाकर 'रसात्मक वाक्यम' म असतोष प्रकट किया है। पर असतोष नाली बनाने वालों के प्रति होना चाहिए था, रस के सिद्धान्त के प्रति नहीं। प्राकृतिक दृश्या के वर्णन मे एक प्रकार का रस अवश्य है चाहे उसे अनिर्वचनीय कहिए, चाहे उसका कोई नाम रखिए, चाहे उसे किसी रस के भीतर कीजिए।"[1] लगता है कि शुक्लजी सौन्दर्यानुभूति को 'रस' का नाम देने का आग्रह कर रहे हैं जिसके मूल म शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह की भावना निहित है।[2]

कविता क्या है' के तीसरे सस्करण म शुक्लजी का काव्य चिन्तन अधिक संश्लिष्ट रूप म सामने आया। अब तक शुक्लजी ने काव्य की पहचान सहृदयता के सम्बन्ध से की थी, किन्तु सहृदयता की अभिव्यक्ति जितनी काव्य के प्रसग म होती है, उससे अधिक उसके बाहर होती है। यहाँ तक पहुँचकर शुक्लजी को लगा कि काव्य म सहृदयता विशेषित होनी चाहिए। इसलिए इस लेख म उन्होने काव्य के सम्पर्क मे व्यक्त सहृदयता को 'रस दशा' कहकर उसे पारिभाषिक रूप दिया। अब 'मानुष भाव' और 'रागात्मक सम्बन्ध' ने 'हृदय की मुक्तावस्था' का रूप ले लिया। इस मोड पर शुक्ल जी ने इस अवस्था को व्यक्तिबद्धता से मुक्ति ही नही कहा, उसे अद्वैतवाद की भूमि पर भी प्रतिष्ठित किया — 'सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परमसत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम-भाव के अन्तर्भूत है। अत बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय इस सत्त्व रस के प्रभाव से पहुँचता है।'[3] काव्य म सहृदय का शब्द विधान ही इस भूमि तक ले जाता है, यह बात उन्होने पहली बार अब अनुभव की। इसलिए इस बार शुक्लजी ने व्यक्तिबद्धता से मुक्ति की साधना के साथ उसमे शब्द विधान की भूमिका का उल्लेख भी किया 'हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते है।'[4] कविता की इस परिभाषा म आस्वाद पक्ष (रस दशा या हृदय की मुक्तावस्था) के साथ उसके सर्जन पक्ष (शब्द विधान) का भी समावेश है।

काव्य का प्रयोजन व्यक्तिबद्धता से मुक्ति मानने के बावजूद इस मोड पर भी शुक्लजी का दृष्टिकोण एकान्तत आध्यात्मिक नहीं रहा है। काव्य द्वारा अद्वैतवादी भूमि पर पहुँचाये जाने की बात कहने के साथ ही उन्होने व्यक्तिबद्धता से मुक्ति के

१ प्रतिनिधि निबन्ध पृ० ६७
२ वही, पृ० ६५
३ चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १५१
४ वही, पृ० १४१

लौकिक अभिप्राय की भी चर्चा की है। उनकी मान्यता है कि कविता "मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के सकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य की भूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता मे लीन किए रहता है।"[1]

शुक्लजी की दृष्टि में 'हृदय की मुक्तावस्था' का अर्थ 'हृदय का प्रसार' है। यह अवस्था रसात्मक होने के साथ ही नैतिक भी है। उन्होंने इसका सम्बन्ध सौन्दर्य की व्यापक अनुभूति से मानते हुए उसे 'मनुष्यता की उच्च भूमि' कहा है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है 'बन्दर को शायद बंदरिया के मुह में ही सौन्दर्य दिखाई पड़ता होगा, पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल पत्ते और रेत-पत्थर मे भी सौन्दर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय प्रसार का स्मारक स्तम्भ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन मे एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर रस-मग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर काम हमे असह्य लगने लगता है।'[2] यह अवस्था शुक्लजी की दृष्टि मे, कोई असाधारण अवस्था न होकर हृदय की प्रकृत दशा है। इसी नाते उन्होंने उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर पहुँचने का साधन माना है "कविता ही हृदय को प्रकृत दशा मे लाती है और जगत् के बीच उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है।"[3] शुक्लजी ने रस दशा को अद्वैत भूमि पर पहुँचाने वाली मानते हुए भी 'अद्वैत' को भावयोग कहकर लौकिक अभिप्राय मे परिणत कर दिया है "भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।"[4] इस लेख मे शुक्लजी ने मनुष्यत्व की व्यापक अनुभूति को यद्यपि अद्वैत की अनुभूति के सम्बन्ध से भी देखा है, फिर भी विकास सिद्धान्त से प्राप्त साहचर्य के पुरातन संस्कार की धारणा छोड़ी नहीं है।

१९२२ मे शुक्लजी ने आदिम संस्कारों की चर्चा संवेदनशीलता या रागात्मक सम्बन्ध की दृष्टि से की थी, १९२९ मे उनका यह मत अधिक विकसित रूप मे सामने आया। १९२२ मे काव्यगत प्रकृति वर्णन मे उद्बुद्ध सौन्दर्यानुभूति को उन्होंने 'रस' के अन्तर्गत रखने का आग्रह किया था १९२९ मे उन्होंने उसे 'साहचर्य-सम्भूत रस'[5] कहा

१ चिन्तामणि पहला भाग, पृ० १६१

२ वही, पृ० १५९-६०

३ वही, पृ० १६०

४ वही, पृ० १६० ६१

५ वही, पृ० १५०

और इस साहचर्य म भावों और रूपों की अंतर्निबद्धता के स्रोत की खोज की "जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अत काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं।"[१] शुक्लजी ने अनेक स्थलों पर रसानुभूति के लिए 'भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना' आवश्यक माना है। उनका कहना है कि 'जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे, तब तक काव्य का वास्तविक ढांचा खड़ा न हो सकेगा।'[२]

रसानुभूति के लिए काव्य का वास्तविक ढांचा खड़ा करने और उसके लिए मूर्त और गोचर रूपों को उपलब्ध करने की बात कहकर शुक्लजी ने काव्यास्वाद का सर्जन पक्ष से सम्बद्ध कर दिया है। पहले के 'कविता क्या है' शीर्षक लेखों में जहाँ काव्य चर्चा के केन्द्र में सहृदयता निष्पन्न आस्वाद हो था, वहाँ १९२९ के इसी शीर्षक के लेख में आस्वाद की काव्य वस्तु पर निर्भरता और काव्य वस्तु की सर्जन सापेक्षता पहली बार तीनों पक्षों के परस्पर गुंथाव के साथ सामने आई। इस संश्लिष्ट विचार प्रक्रिया के फलस्वरूप उन्होंने इस लेख में यह स्वीकार किया कि "उक्ति ही काव्य होती है,"[३] यद्यपि यह मान लेने के बावजूद उक्ति की विलक्षणता को वे काव्य मूल्य मानने के विरुद्ध रहे। उसे उन्होंने 'उक्ति-चमत्कार' कहकर निम्नतर श्रेणी की वस्तु माना। सहृदय का आत्म प्रसार ही उनकी दृष्टि में अन्त तक काव्य का प्रयोजन रहा। उक्ति की सार्थकता उन्होंने इसी में मानी "हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म को जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सदा विचित्र, अद्‌भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन होकर एकबारगी कथन के *अनूठे ढंग, वर्ण विन्यास या पद प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या* निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है।'[४]

'कविता क्या है' के पहले दो संस्करणों में 'कल्पना' की चर्चा काव्य की प्रभाव शक्ति के साधन के रूप में की गई थी तीसरे संस्करण में उसका विचार पहली बार

---

१ चिंतामणि, पहला भाग, पृ० १४२
२ वही, पृ० १४५
३ वही, पृ० १७८
४ वही, पृ० १७१

राजन के कोण मे किया गया है "कवि म विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक म अधिकतर ग्राहक।"[1] शुक्लजी की सहृदयता-केन्द्रित काव्य दृष्टि म विधायक कल्पना रस-सचार का साधन ही बनकर रही, उसका अपना महत्व उन्होने स्वीकार नही किया "किसी प्रसग के अतगत कैसा ही विचित्र मूर्तिविधान हो, पर यदि उसम उपयुक्त भाव सचार की क्षमता नही है तो वह काव्य के अन्तगत न होगा।"[2]

कविता की भाषा पर विचार करते समय वे अधिक वस्तून्मुख अवश्य दिखलाई देते है। अन्यत्र उन्होंने जहा बिम्ब ग्रहण की ही बात कही है, वहाँ भाषा के प्रसग म बिम्ब विधान या मूर्ति-विधान की बात भी उन्होंने कही है "मूर्ति विधान के लिए वह (कविता) भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लेती है।" फिर भी भाषा की चर्चा उन्होने इस प्रकार की है जसे वह काव्य वस्तु का अविच्छेद्य अग न होकर उससे जुडी हुई वस्तु हो। शुक्लजी की काव्य-दृष्टि म जो अद्वैतवाद अतर्भूत था, उसम वह द्वैत खप नही सकता था जिसम आस्वादक अपनी स्वतत्र सत्ता बनाए रखकर काव्य-वस्तु का सौन्दय —उसका रचना-विधान—का अवलोकन और आकलन कर सके। यही कारण है कि काव्य वस्तु की विलक्षणता का महत्व उन्होन स्वीकार नही किया। उनका कहना था "केवल असाधारणता की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नही।"[3]

फिर भी 'कविता क्या है' के तीसर सस्करण म शुक्लजी काव्य सौन्दय के सम्बन्ध म पहले की अपेक्षा अधिक उदार दिखलाई देते ह। इस लेख म उन्होने 'रमणीयता' को काव्य मूल्य के रूप म स्वीकार किया ह (इसलिए भी कि रमणीयता म तादात्म्यपरक सौन्दयानुभूति क लिए अवकाश था) और काव्य को कला मानते हुए सगीत और चित्रकला स उसका सम्बन्ध स्वीकार किया है "काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्तिविधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिए वह सगीत का सहारा लेती है।" इसके साथ ही शुक्लजी न एक महत्वपूर्ण बात यह कही है कि काव्य मे वर्णन प्रणालियो के सौन्दय की सम्भावनाएँ अनत ह। अनादि काल से अब तक उनके असख्य रूप हमारे सामने आए हैं और आग भी आते रहगे फिर भी उसम नित्य नूतनता के लिए अवकाश रहेगा। इसीलिए शुक्लजी न अलकारो की गिनती करना अनुचित माना है "कौन कह सकता है कि काव्य म जितने रमणीय स्थल हैं सब ढूढ निकाले गए है वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियाँ हो सकती हैं, सब निरूपित हो गई, आदि काव्य

१ चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १६१

२ वही, पृ० १६२

३ वही, पृ० १६०

रामायण से लेकर इधर तक के काव्य में न जाने कितनी विचित्र प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं जो न निर्दिष्ट की गई हैं, न जिनके कुछ नाम रखे गए हैं।'[१]

शुक्लजी का मत बहुत स्पष्ट है। वर्णन प्रणालियों में सौंदर्य की अनंत सम्भावनाओं की बात करते हुए भी वे काव्य के सौन्दर्य को वर्णन प्रणालियों—जिन्हें वे अलंकारों का पर्याय मानते हैं—में सौन्दर्य में निहित मानने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। अधिक महत्त्व इस बात का है कि कविता क्या है के तीसरे और अंतिम संस्करण तक पहुँचकर शुक्लजी ने काव्य से सम्बन्धित मुद्दों पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। इसमें पहले तक उनकी काव्य चर्चा जहाँ काव्य को जीवनानुभवों के मध्य रखकर उसके आस पास की समस्याओं पर मँडराती रहती थी वहाँ कविता क्या है शीर्षक से लिखे गए अंतिम लेख में मानो कविता का 'क्लोज अप' प्रस्तुत किया गया है जिसमें कविता का स्वरूप विस्तार के साथ उपलब्ध है, जबकि आनुषंगिक मुद्दे विचार क्षेत्र के बाहर चले गए हैं।

साहित्य चिन्तन के अंतिम चरण में शुक्लजी के अवधान का केन्द्र काव्य वस्तु बन गया। पहले शुक्लजी जहाँ लोक के सन्दर्भ में काव्य का विचार करते थे, अब वहाँ वे काव्य में अवतीर्ण लोक की चर्चा करने लगे। उन्होंने यह मान लिया कि 'कविता अभिव्यंजना है, वह अभिव्यक्ति या विकास को लेकर चलती है।' यह दृष्टि उस दृष्टि से स्पष्टतया भिन्न है जो काव्य को संवेदनशीलता के उदबोधन या रस के नाते ही महत्त्व देती थी। काव्य को अभिव्यंजना या विकास के रूप में लेने का फलितार्थ यह है कि काव्य की सत्ता उसके शरीर में है भले ही उसका प्राण उसकी रसवत्ता में निहित हो।

इस चरण में पहुँचने पर शुक्लजी के साहित्य चिन्तन में कल्पना का विचार अपेक्षाकृत अधिक प्रखरता पा गया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौबीसवें अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में शुक्लजी ने भाषा के चार प्रकार के अर्थों—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित की चर्चा करते हुए कहा कि "कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है।'[२] यह मानते हुए भी कि "काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते'[३], उन्होंने काव्य में जीवन की अवतारणा में कवि की कल्पना की भूमिका रेखांकित की है "बुद्धि अपनी सूक्ष्म क्रिया द्वारा, विशेष मनन और चिंतन द्वारा उसका (जगत का) निरूपण करती है और कवि की प्रतिभा या कल्पना द्वारा उसे गोचर और मार्मिक रूप में सामने रखती है।'[४]

---

१ चिंतामणि, पहला भाग, पृ० १८४

२ वही भाग २ पृ० १२७

३ वही, पृ० १४७

४ वही, पृ० १५७

लोक और काव्य के बीच कवि पर दृष्टि पड़ने पर शुक्लजी ने काव्य में लोक के भावों को भी अब कवि के भाव की दृष्टि से देखा। इसके फलस्वरूप अब शुक्लजी के काव्य चिंतन में बीजभाव की अवधारणा ने जन्म लिया और उन्होंने काव्य-विधान का भेदकर उसके मूल में निहित बीजभाव के सम्बन्ध से भी रस के सम्बन्ध में विचार किया। उन्होंने लक्ष्य किया कि काव्यास्वाद की प्रक्रिया में कई बार हमारा तादात्म्य पात्र विशेष से नहीं होता, हम उसके शील वैचित्र्य से ही प्रभावित होते हैं। काव्यास्वाद की इस कोटि को भी उन्होंने 'रस' के अन्तर्गत रखा और उसका सम्बन्ध भी तादात्म्य तथा साधारणीकरण से माना। इस प्रकार की रसात्मकता को मध्यम कोटि की मानते हुए उन्होंने लिखा "इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य कवि के उस भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है, वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्राय होता है।'[१] स्पष्ट है कि अब शुक्लजी के लिए काव्य के रूप में कवि की सृष्टि विचारणीय बन गई यद्यपि इस नाते कल्पना की नूतन और विलक्षण सृष्टि का महत्त्व उन्होंने अंत तक स्वीकार नहीं किया।

फिर भी इतना तो हुआ कि उन्होंने काव्य पर कवि कर्म के सम्बन्ध में विचार करना आरम्भ किया। ऐसा होने में उन्होंने काव्य की चर्चा अनेक बार कला के रूप में की है। इसमें संदेह नहीं कि अनेक बार उन्होंने काव्य को 'कला' मानने का विरोध भी किया है, लेकिन इस विरोध का लक्ष्य या तो इस शब्द का कलावादी अर्थ में प्रयोग रहा है या कारीगरी के अर्थ में प्रयोग अथवा कामसूत्र का वह दृष्टिकोण जिसके अनुसार कला भोग-विलास की वस्तु है। भाषिक सर्जना के रूप में शुक्लजी ने काव्य को कला माना है और अनेक बार 'काव्य कला' शब्द का प्रयोग उन्होंने किया है।[२] उन्होंने डंटन के उस वर्गीकरण का भी विरोध किया है जिसके अनुसार एक प्रकार का काव्य 'शक्ति काव्य' है और दूसरे प्रकार का 'कला काव्य'। इस प्रसंग में उन्होंने लिखा है "डंटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है, वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई, तो लोकगति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा।"[३]

---

१ प्रतिनिधि निबंध, पृ० १२२
२ वही, पृ० १०६
३ वही, पृ० १०३

जैसा कि उनकी चिंतन प्रणाली से स्पष्ट है, शुक्लजी की दृष्टि में काव्य का अधिक गम्भीर श्रेणी का प्रभाव भाव-जगत से संबंधित था। इसलिए उन्होंने भाव सौंदर्य की चर्चा जी भरकर की है। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अंतिम चरण के लेखन में शुक्लजी की रुचि लोकमंगल और सौंदर्य के समीकरण में व्यक्त हुई है। काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था, दोनों में आनंद कला की अभिव्यक्ति मानते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य में लोकमंगल की प्रतिष्ठा "धर्मशासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं[1] "कला की दृष्टि में सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिए होती है। इसी आधार पर शुक्लजी ने रूप सौंदर्य और कर्म सौंदर्य के अंतःसम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए लिखा है "आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुंदरता कुम्भकर्ण को और कुम्भकर्ण की कुरूपता राम को देते न बनेगी।"[2]

अंतिम चरण में पहुँचकर शुक्लजी ने 'सौंदर्य के स्वरूप की व्याख्या में रुचि लेते हुए लक्षणा के बल पर उन्होंने उसका व्यापक अर्थ किया है। सौंदर्य को मूलतः 'दर्शन वृत्ति की रागात्मक दशा' कहकर 'कर्म सौंदर्य', 'नाद सौंदर्य' आदि में उन्होंने लक्षणा से इस शब्द के अर्थ विस्तार की व्याख्या की है। यह करते हुए उन्होंने प्रयत्न तथा उपयोग पक्षों में 'सौंदर्य' के स्थिर और गतिशील भेद किये हैं। कला से सौन्दर्य के संबंध पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है 'रूप और गति दोनों दृष्टि के विषय हैं। अतः दर्शन वृत्ति को तुष्ट करने वाले दो प्रकार के विषय ठहरते हैं, रूप और गति। प्रयत्न पक्ष में गति की रुचिरता का वर्णन साधनावस्था के अंतर्गत आ चुका है। उपभोग पक्ष में गति की रुचिरता हम नृत्यकला आदि में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार दर्शन और श्रवण दोनों के उपभोग पक्ष को लेकर कई कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ—दर्शन की तुष्टि के लिए चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्यकला का श्रवण की तुष्टि के लिए संगीत का।[3] इसके साथ ही उन्होंने यह चेतावनी भी दी है कि "यह न समझना चाहिए कि उपभोग पक्ष की तुष्टि ही काव्य का एकांत लक्ष्य है। रसात्मक तुष्टि का क्षेत्र उपयोग वृत्ति के और आगे तक है।"[4]

कला के साथ काव्य के संबंध को लेकर शुक्लजी ने जिस प्रकार कई बार अप्रसन्नता प्रकट की है, उसी प्रकार सौंदर्य के साथ काव्य के संबंध को लेकर भी वे कई

---

१ प्रतिनिधि निबंध, पृ० १०८

२ वही, पृ० १०६

३ वही, पृ० ११०

४ वही पृ० ११०-११

स्थानों पर नाराज दिखलाई देते हैं, लेकिन ऐसा प्राय वहाँ हुआ है जहाँ उन्हें सौंदर्य सजावट का स्थानापन्न जान पड़ा है। उदाहरण के लिए, जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य के धर्म को कोठार और रसोईघर के विपरीत ड्राइंगरूम का धर्म कहा, तो शुक्लजी ने उनके मंतव्य को 'सजावट की रुचि' कहकर अस्वीकार कर दिया।

शुक्लजी के साहित्य-चिंतन के अंतिम चरण की एक देन यह है कि उन्होंने काव्य में रस की स्थितियों को रूप रचना के साथ जोड़ कर रखा। रस सिद्धांत के इतिहास में शायद पहली बार शुक्लजी ने रस और रूप के संबंध को सामने रखकर रस के विधान में कल्पना की भूमिका को समझा "संसार सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है"। पाश्चात्य साहित्य चर्चा में कल्पना को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने से रुष्ट होते हुए भी शुक्लजी ने इतना अवश्य माना कि "काव्य वस्तु का सारा रूप विधान कल्पना की क्रिया से होता है।"[१]

वस्तुतः शुक्लजी का रोष कल्पना को जीवन से विच्छिन्न और कल्पना-सृष्टि को जीवन निरपेक्ष मानने के प्रति था। काव्य में जो कल्पित रूप विधान देखने में आता है, उसे शुक्लजी जीवन से प्राप्त या प्रत्यक्ष रूप विधान पर निर्भर मानते थे 'प्रत्यक्ष रूप विधान के उपादान से ही कल्पित रूप विधान होता है।'[२] प्रत्यक्ष रूप विधान से स्वतंत्र कल्पना की अपनी सृष्टि की विलक्षणता की आशंसा के पक्ष में वे अंत तक नहीं बोले। नूतन सृष्टि के निर्माण के सिद्धांत का उन्होंने सदा उपहास किया। काव्यगत रूप विधान को प्रत्यक्ष रूप विधान का अनुवर्ती मानने में शुक्लजी सही थे या गलत, इस प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि अपनी साहित्य चिंता के अंतिम चरण में रूप के प्रश्न का सामना करते हुए उन्होंने अपना पक्ष दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत किया है।

सही बात यह है कि शुक्लजी ने अपने साहित्य चिंतन के अंतिम चरण में कलावाद की चुनौती का सामना किया था और इस स्थिति में वे कई बार बेचैन हो उठे थे। कलावाद के प्रवक्ताओं में उनके सामने क्रोचे और रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। नूतन सृष्टि के निर्माण की विलक्षणता और उपयोग निरपेक्ष सौंदर्य की साधना संबंधी दृष्टिकोण से वे आहत हुए थे। इस दृष्टिकोण के विरोध में उन्होंने साधारणीकरण और सजनात्मक कल्पना की जीवनोन्मुखता का प्रतिपादन किया था। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' इसी प्रकार की चिंता का परिणाम है।

---

१ चिंतामणि, पहला भाग, पृ० २६४

२ प्रतिनिधि निबंध, पृ० १०१

फिर भी इतना निश्चित है कि शुक्लजी के मन में साहित्य का वैशिष्ट्य क्रमिक गति में स्पष्ट होता गया। 'मानुष-भाव', 'रागात्मक सम्बंध' और 'हृदय की मुक्तावस्था' की चर्चा धीरे धीरे साहित्य के अपने मुद्दों की ओर मुड़ चली। काव्य को 'शब्द विधान' और 'उक्ति' के रूप में चीन्हने के साथ उनके साहित्य चिंतन का नया युग आरम्भ हुआ जिसमें 'रस' और 'सौंदर्य' को प्रभूत महत्त्व मिला। काव्य को 'कला' मानने की ओर भी शुक्लजी का रुझान बढ़ चला—यद्यपि कलावाद को उन्होंने अंत तक स्वीकार नहीं किया और इसी कारण वे काव्य को कला मानने का विरोध भी बीच बीच में करते रहे। 'भाव' की महिमा वे आरम्भ से मानते आए थे, लेकिन आगे चलकर उन्होंने उसके साथ 'रूप' और 'कल्पना' के सम्बंध की भी व्याख्या की और लोकमंगल की धारणा को भाव सौंदर्य और कर्म सौंदर्य में समीकृत कर साहित्य की जीवनोन्मुखता और जीवनपरायणता के भीतर उसकी कलात्मकता की प्रतिष्ठा की। शुक्लजी के प्रस्थान-स्थल को दृष्टि में रखते हुए उनके काव्य चिंतन की अंतिम स्थिति पर विचार किया जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तीस वर्ष के समय में उन्होंने एक लम्बी यात्रा तय की थी।

अध्याय २ ६ । ६

शुक्लजी का सौन्दर्यशास्त्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सौन्दर्यशास्त्र की बात करना पहली दृष्टि में असंगत प्रतीत हो सकता है। यही नहीं कि वे काव्य की उपयोगिता और उसके नैतिक पक्ष के प्रबल समर्थक थे, काव्य की सैद्धान्तिक चर्चा करते समय उन्होंने सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण, कला और कलावाद पर प्रहार भी किया है। 'चिन्तामणि' पहला भाग में संगृहीत लेख 'कविता क्या है' में सौन्दर्यवादी काव्य दृष्टि को उड़ाते हुए उन्होंने लिखा है "भारतीय कला समीक्षा में यह (सौन्दर्य) एक बड़ी ऊँची उड़ान या दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं।" सौन्दर्यशास्त्र काव्य को कलाओं में से एक मानते हुए उसके कलात्मक उत्कर्ष को विचार के केन्द्र में रखता है। आचार्य शुक्ल ने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक लेख में काव्य चर्चा के अन्तर्गत 'कला' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है "'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मन बहलाव। यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य चर्चा में बहुत जरूरी सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा।" इतना ही नहीं, 'श्रद्धा भक्ति' शीर्षक निबंध में उन्होंने विभिन्न कलाओं की अभ्यासजन्य सूक्ष्मता का उपहास किया है। स्थापत्य के क्षेत्र में बारीक कारीगरी को लेकर उन्होंने लिखा है "समझने की बात है कि इमारत हाथ पर रखकर देखने की चीज नहीं है, दस पांच हाथ दूर पर खड़े होकर देखने की चीज है।" चित्रकला की बारीकी की खिल्ली उड़ाने के लिए उन्होंने राधा कृष्ण के सूक्ष्मतापूर्ण चित्र का एक कल्पित उदाहरण सामने रखकर लिखा है "देखने वाले को यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ दूर खड़ा होकर कदम्ब और राधा कृष्ण को एक साथ देख रहा है, बल्कि यह जान पड़ता है कि कभी तो पत्तियाँ गिनने के लिए वह पेड़ पर चढ़ता है और कभी नहाना देखने के लिए चुनरी हाथ में लेता है।" संगीत का उल्लेख उन्होंने और भी उपहासपूर्ण स्वर में किया है "संगीत के पेंच पाच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है, उस समय बड़े बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।

शुक्लजी की ये टिप्पणियाँ विनोदपूर्ण होते हुए भी बहुत तीखी हैं। कला प्रेमियों को क्षुब्ध करने के लिए ये पर्याप्त हैं। फिर भी इनसे यह प्रकट नहीं होता कि आचार्य शुक्ल को कला सौंदर्य में रुचि नहीं थी, या वे उसका सम्मान नहीं करते थे। उनकी इन उक्तियों के आधार पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे काव्य में कलात्मकता के विरोधी थे, या काव्य का सौंदर्य से सम्बन्ध नहीं मानते थे। उनके इन शब्दों से इतना ही प्रकट होता है कि वे बारीकरी और कला में अन्तर करते थे और काव्य को अन्य कलाओं के समान सिर्फ रूप समृद्धि की तुला पर तौलना पसंद नहीं करते थे। पश्चिम के सौंदर्य चिंतन में कला की स्वायत्तता विषयक धारणा को सामने पाकर वे क्षुब्ध हुए थे। इस संबंध में कला की जीवन निरपेक्षता का सिद्धांत उन्हें कतई पसंद नहीं था।

चिंतामणि पहला भाग में संगृहीत 'कविता क्या है?' लेख में शुक्लजी ने स्पष्ट शब्दों में सौंदर्य के साथ कवि कर्म के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि "कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती ही है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूप रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए कवि लोग कई प्रकार के सौंदर्यों का मेल किया करते हैं।" 'काव्य में लोकमंगल और माधुर्य' शीर्षक लेख में भी इस प्रकार की मान्यता के दर्शन होते हैं "कवि सौंदर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौंदर्य का जो मेल आपसे आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है ...।" शुक्लजी ने काव्य के विधानगत सौंदर्य की चर्चा भी की है। सुधाकर पांडेय द्वारा सम्पादित आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबंध में सम्मिलित 'कविता क्या है' शीर्षक लेख में उन्होंने काव्य सौंदर्य के दो पक्षों—भाव सौंदर्य और नाद सौंदर्य—का उल्लेख किया है।

लगता यह है कि शुक्लजी ने काव्य में सौंदर्य के सम्बन्ध को अमान्य न कर कला और सौंदर्य के साथ काव्य के उस सम्बन्ध निरूपण का विरोध किया है जो उन्हें पश्चिम में और वहाँ के प्रभावस्वरूप रवींद्रनाथ ठाकुर आदि की साहित्य दृष्टि में लोकमंगल की उपेक्षा करता प्रतीत हुआ था। काव्यास्वाद को सौंदर्यानुभूति मानने में उन्हें यह खटका हुआ कि काव्य उपभोग्य बनकर रह जा सकता है। इस खतरे से सावधान करते हुए उन्होंने 'काव्य में लोकमंगल और माधुर्य' शीर्षक लेख में लिखा "यह न समझना चाहिए कि उपभोग पक्ष की तुष्टि ही काव्य का एकांत लक्ष्य है। रसात्मक तुष्टि का क्षेत्र उपभोग वृत्ति से और आगे जाता है।" दूसरी बात यह है कि तालस्ताय जिन्हें वे कलावादी मानते थे, काव्य में प्रेम के ही सौन्दर्य के कायल थे। शुक्लजी इस प्रकार की भाव सौंदर्य परिमिति के विरुद्ध थे। उन्होंने संघर्ष की

भीषणता में भी सौन्दर्य की सत्ता मानी है। इसी नाते अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि शेली की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है "शेली ने भी काव्य-कला का मूल तत्व प्रेम भाव ही माना था, पर अपने को सुख सौन्दर्यमय माधुर्य भाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबन्ध-क्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौन्दर्य और गत्यात्मक सौन्दर्य, उपभोग पक्ष और प्रयत्न पक्ष, दोनों उनमें पाये जाते हैं।"

लेकिन सौन्दर्य सृष्टि के नाम पर अद्भुत, अपूर्व, अद्वितीय, विचित्र और विलक्षण की रचना उन्हें साधारणीकरण में बाधक प्रतीत होती थी, इसलिए उन्होंने ऐसी रचनाओं का विरोध किया है। पश्चिमी सौन्दर्य चिंतकों की दृष्टि में 'असामान्य' की प्रतिष्ठा का विरोध करते हुए उन्होंने विचार प्रकट किया है कि "असामान्यता या चमत्कार के रुचि वाले कवि बाह्य प्रकृति का चित्रण उसकी असाधारण विभूति को—उसकी चमक-दमक, सजावट, वैचित्र्य, अनोखेपन इत्यादि को ही—लेकर चलते हैं। इस रुचि को बहुत से लोग कला रुचि मानते हैं। उनके मत से जगत् के साधारण और वरविकर के बीच से असाधारण और रुचिर को छांट-छांट कर सजाना ही और कलाओं के समान ही काव्य-कला का भी काम है। × × × काव्य का यह असामान्यतावाद धीरे धीरे उस लोकोत्तरवाद तक पहुँचा जिसका प्रतिपादन काव्य को आध्यात्मिक क्षेत्र में ले जाने के लिए किया गया। × × × विभाव पक्ष में शोभन और दीप्त को चुनकर उनकी असामान्य योजना द्वारा अद्भुत रंजन की सामग्री तैयार करना काव्य में कलावाद के नए और पुराने अनुयायियों का लक्ष्य रहा है।"

सौन्दर्यमूलक काव्य दृष्टि की परिणति अंततः रचना की स्वायत्तता की प्रतिष्ठा में होती है जो शुक्लजी को स्वीकार्य नहीं थी। इसे उन्होंने 'नूतन निर्माण' वाली कल्पना कहकर इसका प्रतिवाद किया है। इसे लेकर वे डटन के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं "ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दशा में किसी की नहीं हो सकती, केवल ऊपरी मन बहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे बड़ा उज्ज्वल उदाहरण होगा। (साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद')

'नूतन सृष्टि के निर्माण' का विरोध करने की एक परिणति यह हुई है कि शुक्लजी ने काव्य में सौन्दर्य की सत्ता मुख्यतः रचना या सर्जन में न मानकर 'सामग्री' में मानी है। काव्य के प्रसंग में सौंदर्य की चर्चा उन्होंने अधिकांशतः वर्ण्य विषय के सौंदर्य के सम्बन्ध से की है। आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबंध में संकलित 'कविता क्या है?' लेख के द्वितीय अनुच्छेद में प्राकृतिक और मानवीय सौंदर्य पर मुख्यतः के संबंध में शुक्लजी ने सौंदर्य के अधिष्ठानों की जो सूची दी है उसमें तो यह प्रकट होता ही है कि कविता में किस प्रकार की विषय वस्तु सौंदर्य भावना की तुष्टि करती है,

इसके अतिरिक्त भी और स्थानों पर उन्होंने काव्य-सौन्दर्य की चर्चा विषय वस्तु संबंधी सौन्दर्य की दृष्टि से की है। उनका कहना है कि "कविता सृष्टि-सौन्दर्य का अनुभव कराती है और सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त करती है। कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौन्दर्य चित्त में अंकित करती है, उसी प्रकार औदार्य, वीरता, त्याग, दया, इत्यादि का सौन्दर्य भी दिखाती है।" 'काव्य में लोकमंगल और माधुर्य' शीर्षक लेख में भी इस दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है: 'भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है। आदिकवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन महोत्सव का दिव्य संगीत है।' सौन्दर्य का यह उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है।

वस्तु में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा का विस्तार मंगल भावना में सौन्दर्य के साक्षात्कार तक हुआ है। लोकमंगल की साधना के लिए किए जाने वाले संघर्ष में शुक्लजी ने सौन्दर्य के दर्शन किए हैं। उनके विचारानुसार 'मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है' (काव्य में लोकमंगल और माधुर्य)। उन्होंने इस धारणा का प्रतिवाद किया है कि काव्य में लोकमंगल के विधान से उपदेशात्मकता या नीरसता आती है। काव्य में संघर्ष की सफलता उपदेश या शिक्षावाद से मुक्त रहती है, क्योंकि उसका अंकन 'कर्म-सौन्दर्य' के रूप में होता है। शुक्लजी के अपने शब्दों में, 'कवि कर्म सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अंतःप्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।' इसलिए "मंगल अमंगल के द्वन्द्व में कवि लोग अंत में मंगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गंध समझकर नाक भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। काव्य में यदि कभी मंगल शक्ति का पराभव देखने में आए, तो भी सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है क्योंकि 'गति में भी सुन्दरता है और सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है, तभी इसमें सुन्दरता आती है।' (काव्य में लोकमंगल और माधुर्य)

काव्य में लोकमंगल का समावेश सदा न सही कई बार शिक्षावाद और उपदेश में परिणत होकर उसके सौन्दर्य की क्षति करता है—शुक्लजी ने यह अस्वीकार नहीं किया है, बल्कि यह बतलाया है कि ऐसा किस स्थिति में होता है। उनका विचार है कि 'अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक नहीं होगा' (काव्य में लोकमंगल और माधुर्य)। यहाँ शुक्लजी ने काव्य-सौन्दर्य के विषय में यह स्वीकार किया है कि काव्य में विषय वस्तु का अपना सौन्दर्य 'बीच के विधान पर बहुत-कुछ निर्भर

रहता है। वस्तु-सौन्दय की प्रतीति तभी होगी जब 'बीच का विधान' ठीक होगा, अन्यथा विषय वस्तु की सुन्दरता के व्यक्त न हो पाने का खतरा पैदा हो जाएगा। इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु का शुक्लजी ने यहाँ एक वाक्य म चलता कर दिया है। उस पर यहा जितने विस्तार से लिखना चाहिए था, नही लिखा है। इसका कारण शायद यह है कि उनकी रुचि मुख्य रूप से वस्तु-सौन्दय म थी, विधानगत सौन्दय म नही। शुक्लजी ने काव्य म कल्पना की भूमिका को यदि समुचित महत्त्व दिया होता, तो वे विधानगत सौन्दय को गौण नही मानते। यह मानने हुए भी कि "काव्य वस्तु का सारा रूप विधान कल्पना की क्रिया मे होता है, उन्होने कल्पना के काय को प्रस्तुत और अप्रस्तुत के विधान म विभाजित कर दिया है। कल्पना की सश्लिष्टता प्रस्तुत अप्रस्तुत जसे विभाजन का अतिक्रमण कर सकती है—यह बात शुक्लजी के ध्यान म होते हुए भी उन्ह स्वीकाय नही थी। जहा वे अलकारो को बाहरी सजावट की चीज मानते रहे, वहीं 'रूप' की सृष्टि को सम्प्रेषण का साधन मानकर चले। कवि की कल्पना स्वप्न के निकट पहुँच सकती है, इस सम्भावना को अस्वीकार न करते हुए भी शुक्लजी इस सम्भावना के निहिताथ को स्वीकार नही कर पाए है। उन्होने लिखा है कि "काव्य सवथा स्वप्न के रूप की वस्तु नही है। स्वप्न के साथ यदि उसका कोई मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी हमारी बाह्य इन्द्रियो के सामने नही रहता और काव्य वस्तु भी।" स्पष्ट है कि स्वप्न और कल्पना का यह सादृश्य बहुत स्थूल और सतही है। दोनो तक का अतिक्रमण कर जो अपूर्व दृश्य उपस्थित करते है, वह शुक्लजी को अमान्य था। इसलिए उन्होने कल्पना को प्रत्यक्ष जगत की परछाई मानने पर जोर दिया। उनके मतानुसार "प्रत्यक्ष रूप विधान के उपादान से ही कल्पित रूप विधान होता है। प्रत्यक्ष रूप विधान का आधार लेते हुए भी कल्पित रूप विधान तक का अतिक्रमण कर अनगलाभासी रूप म ढल सकता है और उस स्थिति म वह काव्य के काम की चीज बना रह सकता है, शुक्लजी यह मानने को तैयार नही जान पडते। काव्य म अनगलाभासी कल्पना की सम्भावना को लक्ष्य कर उन्होने लिखा है "इन ढाँचो को लेकर हम विलक्षण रग रूप की वस्तुएँ खडी कर सकते है पर यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि उन वस्तुओ का रूप रग प्रकृति से जितना ही दूर घसीटा जाएगा, उतनी ही वे वस्तुएँ कल्पना मे कम देर टिकेंगी। घोडे के मुह वाले किन्नर, पुखराज की चट्टानो और सोने की रेत के बीच बहती हुई नदियाँ, आग के बने हुए शरीर एक क्षण के लिए मन म आ सकते है, पर मोन की चिडियो की तरह चट उड जायेंगे" ('काव्य का रूप विधान और कल्पना')। शुक्ल जी की दृष्टि मे काव्य के काम की कल्पना वही है जो 'सच्ची और गहरी अनुभूति' उत्पन्न कर सके। उन्होने लिखा है कि "काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही होती है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है' (काव्य का रूप विधान और कल्पना)।

कल्पना को नूतन सृष्टि के निर्माण की दृष्टि में महत्त्व न देकर शुक्लजी ने उसे प्रत्यक्ष जीवन की अनुगामिनी माना। इसमें उन्हें काव्य सौन्दर्य का रहस्य 'मूल और आदिम भावों के उद्घाटन' में दिखाई दिया। 'भाव' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है कि सभ्यता का विकास होने के फलस्वरूप "उत्तेजित क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है—वह भी कुछ कपड़े-लत्ते आदि पहनकर समाज में आता है जिससे मार पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जाने वाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है। ××× पर यह प्रच्छन्न रूप उतना मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन काव्य का एक मुख्य काम है।" चिन्तामणि, पहला भाग में संकलित 'कविता क्या है?' शीर्षक लेख में तो वे यहां तक कह गए हैं "आदिम रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है अतः इनके द्वारा जैसा रस परिपाक सम्भव है वैसा कल कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चैक काटना, सर्वस्व हरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

इस दृष्टिकोण का विस्तार इस सीमा तक हुआ है कि रूप की काव्य प्रेषणा शक्ति का स्रोत भी शुक्लजी को उसके 'आदिम' होने में दिखलाई दिया है "जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते, तब तक उन पर काव्य दृष्टि नहीं पड़ती।" (कविता क्या है?, चिन्तामणि, पहला भाग)

'रसात्मक बोध के विविध रूप' में शुक्लजी ने यह स्वीकार किया है कि "मनोवृत्तियां या भावों की सुन्दरता, भीषणता आदि की भावना भी रूप होकर मन में उठती है।" इसके आगे नूतन सृष्टि के निर्माण की बात उन्होंने नहीं मानी है। उपर्युक्त लेख में अनुभूति से कल्पना की स्वतन्त्रता की चर्चा पूर्वपक्ष के रूप में ही की गई है

"ऊपर गिनाए हुए तीन प्रकार के रूप विधानों में से अंतिम (कल्पित) ही काव्य समीक्षकों और साहित्य मीमांसकों के विचार क्षेत्र के भीतर लिये गए और लिये जाते हैं।" बात यह है कि काव्य शब्द व्यापार है। वह शब्द संकेतों द्वारा ही अन्तस में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्तिविधान करने का

प्रयत्न करता है। अत जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सबंध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि कवि-कर्म का निरूपण करने वालों का ध्यान रूप विधान के कल्पना पक्ष पर ही रहे, रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे सम्बद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी जाए।"

शुक्लजी काव्य में कल्पना की प्रतिष्ठा के पक्ष में नहीं थे, यह बात उनके इसी लेख में आए इस वाक्य से भी प्रकट होती है "आजकल तो भाव की बात दब सी गई है क्योंकि कवि की नूतन सृष्टि इसी (कल्पना) की कृति समझी जाती है। कल्पना पर अधिक बल देने से कला या काव्य की स्वायत्तता के प्रतिपादन का रास्ता खुल जाता है, जो शुक्लजी को स्वीकार नहीं था। इस स्थिति की सम्भावना का विरोध करते समय उनकी वाणी व्यंग्य से तीखी हो उठी है 'जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूति से कलानुभूति या काव्यानुभूति को एकदम अलग कहने की चाल योरप में चली उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप विधान से कल्पित रूप विधान को असम्बद्ध घोषित करने की रूढ़ि प्रतिष्ठित हुई। कल्पना की एक निराली दुनिया कही जाने लगी और कवि लोग दूसरी सृष्टि बनाने वाले विश्वामित्र हुए।"

काव्य वस्तु की अद्वितीयता के भान को शुक्लजी ने व्यक्ति वैचित्र्य कहते हुए उसे काव्य के पण्य के साथ तादात्म्य की अनुभूति की तुलना में हीन माना है। उन्होंने कहा है कि "शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ है।' दोनों प्रकार की रसानुभूतियों में उन्होंने जो भिन्नता बतलाई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक रसानुभूति या सबंध तादात्म्य की स्थिति से है, अद्वितीयता की अनुभूति से नहीं। शील वैचित्र्य और उदात्तवृत्ति वाले पात्रों के साक्षात्कार में भिन्नता यह रहती है कि "प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।' 'भाव व्यंजना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने उसे मध्यम कोटि की रस दशा कहा है "किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी न किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और भाव का अनुभव करता है। यह दशा

भी एक प्रकार की रस दशा ही है। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि का ही मानेंगे।'

शील वैचित्र्य का भान उसके व्यंजक पात्र के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य नहीं होने देता इसलिए उसके साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता, जबकि शुक्लजी ने काव्य की जो परिभाषा की है, उसका केन्द्रबिन्दु 'साधारणीकरण' है। चिंतामणि पहला भाग के 'कविता क्या है?' लेख में उन्होंने कविता को परिभाषित करते हुए लिखा है ' जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" काव्य के प्रति इस अभिगम में नूतन सृष्टि का निर्माण करने वाली कल्पना के उत्कर्ष का न्यून लप सकना स्वाभाविक ही था।

लेकिन 'आत्मा की मुक्तावस्था' के सादृश्य पर 'हृदय की मुक्ति की साधना' की परिकल्पना में आध्यात्मिकता की जो गंध आती है, वैसा कुछ भी शुक्लजी की सिद्धान्त व्यवस्था में नहीं था। शुक्लजी की दृष्टि में हृदय की मुक्ति का अभिप्राय पाठक या दर्शक का लोक सामान्य की भूमि पर पहुंच जाना है "कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य की भूमि पर ले जाती है जहां जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में विलीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सब की अनुभूति होती या हो सकती है।"

सही बात यह है कि काव्य या कला की चर्चा में 'अध्यात्म' का हस्तक्षेप शुक्लजी को पसंद नहीं था। 'काव्य में लोकमंगल और माधुर्य' शीर्षक लेख में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है " अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई कहीं जरूरत नहीं है।

इस दृष्टि से शुक्लजी ने रस सिद्धान्त को एक महत्त्वपूर्ण मोड़ देते हुए कल्पना और बिम्बग्रहण से—इस प्रकार काव्य के रूप पक्ष से—रस का सम्बन्ध उद्घाटित किया। कल्पना सृष्टि की स्वायत्तता का विरोध करते हुए भी उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि "हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श तभी होता है जब जगत् या जीवन का कोई सुन्दर रूप, मार्मिक दशा या तथ्य मन में उपस्थित होता है' ('काव्य का रूप विधान और कल्पना')। यह मानते हुए भी कि "रस और भाव ही कविता के प्राण हैं, उन्होंने यह कहा है कि "कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आती है, संकेत रूप में नहीं। अतः उसमें गोचर रूपों का ही विधान अधिकतर होता है' ('कविता क्या है?', आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध)। चिंतामणि, पहला भाग में संगृहीत

'कविता क्या है ?' लख से शुक्लजी का यह वाक्य बहुश उद्धृत रहा है—"काव्य म अथ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपक्षित होता है।' लेकिन इस प्रकार के वाक्यो स इस भ्रम म नही पडना चाहिए कि शुक्लजी कल्पना या बिम्ब को सीधे उसी की हैसियत से मान देते थे। इस सम्बन्ध म उनके इन वाक्यो को याद रखना होगा "यूरोपीय साहित्य मीमासा म कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवाय साधन, पर है साधन ही, साध्य नही' (उपयुक्त)। घनानद और सुमित्रानदन पत की कविता से लाक्षणिक प्रयोगो के अनक उदाहरण देकर शुक्लजी न यह समझाया है कि अभिव्यक्ति की वक्रता के मूल म कल्पना ही काय करती है। सिद्धातत उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि 'भाषाशैली को अधिक मार्मिक और चमत्कारपूण बनान म भी कल्पना ही काम करती है। साधन रूप म कल्पना को पूरा मान देते हुए उन्होंने लिखा है "काव्य की पूण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनो क लिए अनिवाय है। ('रसात्मक बोध क विविध रूप')

शुक्लजी के सौदयशास्त्र क प्रमुख पक्षो को आलोकित करन पर यह प्रतीत होता है कि उन्होंन भारतीय रस सिद्धात और पाश्चात्य कल्पना सिद्धात को परस्पर मिलान का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंन रस सिद्धात को अध्यात्म से हटाकर विशुद्ध मानवीय भूमि पर स्थापित किया है और कल्पना की स्वायत्त सष्टि का निषेध करते हुए रसानुभूति के साधन रूप म उसकी अनिवायता का प्रतिपादन किया है।

समन्वय क प्रयत्न क बावजूद शुक्लजी भारतीयता की ओर झुके हुए जान पडत है। अपने लेखो म उन्होंन 'हमारे यहा' का उल्लख रह रह कर किया है। इसी आग्रह के फलस्वरूप उन्होंने काव्य को कला मानन से भी कही कही इकार किया है। 'काव्य का रूप विधान और कल्पना' म कलाओ के काम वासना सम्बधी सिद्धान्त क सदभ म उन्होंने लिखा है

> "उपयुक्त सिद्धात का ही एक अग काम वासना का सिद्धात है जिसके अनुसार काव्य का सम्बध और कलाओ के समान काम वासना की तृप्ति से है। यह मत काव्य को ललित कलाओ मे गिनने का परिणाम है। कलाओ के सम्बध मे, जिनका लक्ष्य केवल सौंदय की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत कुछ ठीक कहा जा सकता है। इसी म चौसठ कलाओ का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओ म नही की गई है।'

लेकिन शुक्लजी भारतीय चितन परम्परा से बँधे नही है। काव्य को कला मानने या न मानन के विषय म अपना मत स्थिर करन मे पूर्व कला के विषय म भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाओ का अतर समझ लने क बाद उन्होंने अपना मत निश्चित किया है "यदि कला का वही अथ लेना है जो कामशास्त्र की चौसठ कलाओ म है—

र्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक, तो काव्य के संबंध में दूर ही से इस
का नमस्कार करना चाहिए।" इस परम्परागत अर्थ को अस्वीकार कर शुक्लजी ने
शब्द को कला माना है। डंटन ने शक्ति-काव्य और कला काव्य में जो भेद किया था,
काव्य स्वीकार कर उन्होंने लिखा "वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों
उसे अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि
में यह चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो
कला।" ('काव्य में लोकमंगल और माधुर्य)। 'कला' के कामशास्त्र सम्मत अर्थ का
संवेगा मण कर शुक्लजी ने 'काव्य-कला' जैसे पद का प्रयोग एकाधिक बार किया है जो
अतिक्र पृष्ठों में दिए गए उद्धरणों में से कुछ में उपलब्ध है।

पिछले परम्परा का अतिक्रमण उनके रस सिद्धान्त में भी दिखलाई देता है जहाँ
। 'रस' का अस्तित्व काव्य में परिरुद्ध न मान कर लोक में भी माना है। 'रसात्मक
उन्हों के विविध रूप' में रस को लोकोत्तर मानने के विषय में उनकी असहमति बहुत
बोध है।

स्पष्ट इसी प्रकार कलावाद की अस्वीकृति भी उनके सौन्दर्यशास्त्र में खुलकर सामने
है। जीवन निरपेक्ष और अपने आप में पूर्ण कल्पना सृष्टि को वे काव्य का सम्मान
आइ देने को तैयार नहीं हुए हैं। उनकी अनेक स्थापनाओं के मूल में कलावाद का निषेध
देन के निहित है, लेकिन इस निषेध की सर्वाधिक मुखर परिणति नैतिकता में सौन्दर्य के
अन्तर्भाव में दिखलाई देती है जिसका सबसे भास्वर रूप काव्य में लोकमंगल की
विस्तना है।

स्थाप आचार्य शुक्ल का सौन्दर्यशास्त्र इस बात का प्रमाण है कि परम्परा चाहे कितनी
समृद्ध हो, वह दृष्टिकोण की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं कर सकती। प्रतिभाशाली
ही स व परम्परा में काट-छाँट करते हुए उसके बल पर आगे बढ़ता है और स्वयं आगे
चिन्त बढ़ते हुए परम्परा को भी आगे ले जाता है। कई बार एकाधिक परम्पराएँ भी उसकी
बढ़ते ति व्यवस्था में एकान्वित हो जाती हैं। शुक्लजी का सौन्दर्यशास्त्र इसका जीवन्त
सिद्ध उदाहरण है।

उदा

अध्याय २

रस-दृष्टि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रस-सम्बन्धी विचारों में एक ओर रीतिकालीन कवियों की शब्द क्रीडा का तो दूसरी ओर पश्चिमी साहित्य चिन्तन में कलावाद की प्रतिष्ठा का विरोध निहित है, फिर भी यह सोचना गलत होगा कि उनका रस सिद्धान्त निषेध के गर्भ से जनमा है। रीतिकवियों की शब्द क्रीडा और पश्चिमी साहित्य चिन्तन में रूपवाद के उत्थान को निरस्त करने के प्रयोजन से उन्होंने रस की प्रतिष्ठा नहीं की है, प्रत्युत उसके पीछे काव्य के मर्म का खोजन की वही प्रेरणा रही है जिसने उनसे 'कविता क्या है' शीर्षक से तीन तीन लेख लिखवाए। 'रसदशा' की चर्चा शुक्लजी ने काव्य की सिद्धि के रूप में करके यही प्रकट किया है कि उनके मतानुसार काव्य रचना का प्रयोजन रस दशा का निष्पादन है। 'कविता क्या है ?' शीर्षक से लिखे गए अपने अंतिम लेख के प्रथम परिच्छेद में शुक्लजी ने 'रस दशा' के रूप में हृदय की मुक्ति को काव्य का प्रयोजन माना है "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"[१]

शुक्लजी के उपर्युक्त शब्दों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्य की सार्थकता उसकी रसात्मकता में मानी है और 'रसात्मकता' की परिकल्पना में उन्होंने मानवीय तथा कलात्मक अभिप्रायों को परस्पर सम्पृक्त रूप में प्रस्तुत किया है। 'हृदय की मुक्तावस्था' का उन्होंने जो प्रतिपादन किया है, वह रस को मानवीय अर्थवत्ता प्रदान करता है क्योंकि हृदय की मुक्ति की उनकी धारणा वस्तुतः निजबद्धता की विरोधी है। उन्होंने पहले हृदय के बद्ध स्वरूप की चर्चा की है, उसके बाद हृदय की मुक्ति की बात कही है "जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र से (अर्थात् जगत से) नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने-आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्तहृदय हो जाता है।"[२]

---

१ चिन्तामणि, भाग १ (१९३९), पृ० १४१

२ वही, पृ० १४१

इस मानवीय अभिप्राय के साथ शुक्लजी ने कलात्मक अभिप्राय जोड दिया है। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक निबंध में शुक्लजी ने प्रतिपादित किया है कि कविता के बाहर भी हृदय की मुक्ति सम्भव है और उस स्थिति में भी रसानुभूति होती है। लेकिन कविता के सम्बंध में रस की प्रामाणिकता रचनाधर्मिता पर निर्भर रहती है। यही कारण है कि 'हृदय की मुक्ति' के सिद्धांत को काव्य के क्षेत्र में उपस्थित करते ही शुक्लजी शब्द विधान को सामने ले आए हैं "हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"[1]

शुक्लजी ने मानवीय और कलात्मक अभिप्रायों को 'रस' में जिस संश्लिष्ट रूप में पाया, उसके विरोध की आशंका उन्हें कलावाद की ओर से हुई और रीतिकालीन कवियों की शब्दक्रीडा उन्हें कलावाद के निकट प्रतीत हुई। उन्होंने कलावाद के साथ अनेक बार रीतिकालीन कवियों की शाब्दिक कलाबाजी के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कलावाद और शब्दक्रीडा में मानवीय पक्ष का अभाव पाकर उन्होंने उसके विरोध में 'रस' का प्रतिपादन किया है।

भारतीय कला दृष्टि ने तो 'रस' के ही संबंध से विभिन्न कलाओं को एक ही धरातल पर रखा था, फिर भी शुक्लजी ने अपने अनेक लेखों में प्रकटत 'कला' पर आक्रमण किया है, तो इसका कारण यह है कि 'कला' के संबंध में उनकी अपनी एक धारणा थी। उनकी मान्यता थी कि कलाओं का संबंध मुख्यत बोध से होता है जिसके कारण कलाएँ रूप सौंदर्य के संबंध से आस्वाद्य होती हैं। कला की रूप रचना कलाकार की अपनी कल्पना से निष्पन्न होती है, जीवन के सरोकारों के लिए उनमें स्थान नहीं होता। इसलिए कला एक स्वायत्त रूप रचना में सार्थक हो सकती है, लेकिन रूप रचना की यह स्वायत्तता साहित्य के लिए हितकर नहीं हो सकती। उनकी दृष्टि में साहित्य की सार्थकता, भाव संवेदन की प्रक्रिया से व्यापकतर मानवीय अनुभूति से सम्पन्न होना है। इसी कारण उन्हें रस सिद्धांत और कलावाद में विरोध दिखलाई दिया है। रस मीमांसा में उन्होंने कलावादियों के दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए लिखा है 'भावों की सच्ची और स्वाभाविक अनुभूति Sentimentality कहकर टाली गई और कलानुभूति उससे सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र अनुभूति बतलाई गई। मतलब यह कि जिस अनुभूति से मनुष्य हाथ पैर हिलाता है, जिस अनुभूति से शुभाशुभ कर्मों का प्रवर्तन होता है, जिस अनुभूति से मानवी प्रकृति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है, वह इन कलाविदों के अनुसार काव्य के किसी उपयोग की नहीं।'[2] काव्य में इस विचार दृष्टि के प्रवेश पर चिंता व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा "कला शब्द की बढती हुई पुकार

---

१ चिंतामणि, भाग १, पृ० १६३

२ रस मीमांसा, पृ० ३३८

के साथ उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि काव्य का कोई विषय या व्यंग्य वस्तु (या भाव) नहीं होता, अर्थात जिस रूप में कोई काव्यात्मक वाक्य हमारे सामने आता है, उससे अलग कोई आधार वस्तु ढूंढना व्यर्थ है।"[1]

कला में रूप की स्वायत्त सृष्टि को महत्व उन्होंने इसीलिए स्वीकार नहीं किया कि उसमें भाव-संवेदन की अनिवार्यता नहीं रह जाती। जिस काव्य-रचना में भाव-निमग्नता अपेक्षित न हो, वह शुक्लजी की दृष्टि में 'सिरपच्ची' ही थी और जिस तरह यह 'सिरपच्ची' की जाती है, उसे उन्होंने 'बावलापन' और 'दिमागी कसरत' कहा है "यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मग्न हुए—कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ का कुछ कहने लगना या तो बावलापन है या दिमागी कसरत, सच्चे कवि की कल्पना नहीं।"[2] 'कला' की इसी धारणा के फलस्वरूप काव्य को कलाओं के अंतर्गत रखना उन्हें नक्काशी और बेलबूटा तथा सजावट या मनोरंजन की सामग्री बना देना प्रतीत हुआ। अपने लेखन में यह आरोप उन्होंने बार बार उन लोगों पर लगाया है जो काव्य को कलाओं के अंतर्गत रखते थे। जहाँ भाव संवेदन और रूपबोध में सहयोग हो, वहाँ वे संतुष्ट जान पड़ते हैं, लेकिन उनके लिए इस सहयोग का अर्थ यह है कि रूप रचना रसानुभूति का साधन बन जाए। उन्होंने लिखा है "हमारे यहाँ काल्पनिक रूप विधान साधन की कोटि में रखा गया है, साध्य वस्तु रसानुभूति ही रखी गई है। भारतीय काव्य दृष्टि के अनुसार कवि की कल्पना भावों की प्रेरणा से ही रूप-विधान में प्रवृत्त होती है और श्रोता या पाठक की कल्पना उस रूप विधान का ग्रहण कर भावों को जगाती है।"[3]

जब-जब शुक्लजी इस विषय में सजग हुए हैं कि क्रोचे जैसे विचारकों ने कला में रूप सृष्टि को साध्य मानकर उसकी स्वायत्तता का जो प्रतिपादन किया है, उसके कारण कला जीवन निरपेक्ष मानी जाने लगी है, तब तब उन्होंने साहित्य को कलाओं से बाहर रखने पर बल दिया है। लेकिन जब जब वे इस चिंता से मुक्त हुए हैं, तब तब उन्होंने न केवल 'काव्य कला' जैसे पद का प्रयोग किया है, साहित्य की समझ और मूल्यांकन के लिए कला दृष्टि की प्रासंगिकता भी स्वीकार की है और ऐसा करते समय उन्होंने एक सीमा तक क्रोचे के मत को भी स्वीकार किया है "यह भी समझ रखना चाहिए कि काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, सामान्य नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी

१ रस मीमांसा, पृ० ३३६
२ वही, पृ० ३४८
३ वही, पृ० ३०३

है।"[१] स्पष्ट है कि शुक्लजी ने यह विचार 'आधुनिक कला समीक्षा' से ग्रहण किया है। इस मत का स्रोत 'क्रोचे' है, यह इस आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य में बिम्ब ग्रहण के महत्त्व का प्रतिपादन करने के साथ काव्य में 'विचार' या 'अवधारणा' का निषेध भी किया है और पादटिप्पणी में इस सिद्धांत के संदर्भ में 'अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे द्वारा सम्प्रतीत्यात्मक ज्ञान और तार्किक ज्ञान में किये गये भेद का उल्लेख किया है।[२]

शुक्लजी ने काव्य में बिम्ब ग्रहण पर बल देते हुए भी रूप रचना और भाव-संवेदन के नाते कला और काव्य में भेद किया है तो इसका कारण यही है कि निरी रूप सृष्टि और उसकी स्वायत्तता उन्हें जीवन के साथ कला के संबंध में बाधक प्रतीत हुई, जबकि भाव संवेदन, जो उनकी रस दृष्टि का केन्द्र है, काव्य को जीवन से जोड़ता है। इसलिए जिस बिन्दु पर बिम्ब रसानुभूति में योग देता है, उस बिन्दु पर उन्होंने क्रोचे को स्वीकार कर लिया है 'काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं।[३] यह सिद्धांत शुक्लजी का अपना नहीं है, आधुनिक कला समीक्षा के क्षेत्र से गृहीत है लेकिन उन्होंने इसमें सार पाया है, जैसा कि उनके इन शब्दों से प्रकट हो रहा है "इस सिद्धांत का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की शक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धांत के रूप में नहीं होती है। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है अर्थ ग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता।[४] अपने लेखन में यह मंतव्य उन्होंने अनेक बार प्रकट किया है।

फिर भी शुक्लजी ने यह कभी नहीं माना कि बिम्ब सृष्टि अपने आप में काव्य-रचना का लक्ष्य हो सकती है। यही वह सीमा है जहाँ से क्रोचे उन्हें स्वीकार्य नहीं रह जाते। क्रोचे का मत उन्होंने यहीं तक अंगीकार किया है जहाँ तक वह रस के साथ उन्हें संगत प्रतीत हुआ है—जहाँ तक साधारणीकरण से उनके मत का विरोध न हो। इसीलिए उन्होंने अपने सामने यह समस्या रखी है "अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ जो 'साधारणीकरण' कहा गया है, उसके विरुद्ध तो यह सिद्धांत नहीं जाता।[५] इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है 'विचार करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पड़ता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का

१ रस मीमांसा, पृ० ३०९
२ वही, पृ० ३१०
३ वही, पृ० ३१०
४ वही, पृ० ३१०
५ वही, पृ० ३११

अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष वस्तु या मूर्त भावना के रूप में न आकर व्यक्तिमात्र या वस्तुमात्र (जाति) के अर्थ संकेत के रूप में आते हैं।"[1] इसके विपरीत "कल्पना में मूर्ति तो विशेष की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है।"[2] इन शब्दों में रस सिद्धान्त के साथ क्रोचे के मत की संगति की सीमा खोजने का प्रयत्न झलक रहा है। यहाँ यह स्पष्ट दिखाई देता है कि रस निरूपण की बँधी-बँधाई लीक से हटकर शुक्लजी ने उसे आधुनिक कला-सिद्धान्त के प्रकाश में प्रस्तुत किया है।

ऐसा करते समय शुक्लजी को लगा है कि काव्य सदा साधारणीकरण की प्रक्रिया से ही आस्वाद्य नहीं होता—और तरह से भी काव्यास्वाद सम्भव है। आधुनिक कला चिंतन से परिचित होने के परिणाम स्वरूप उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया कि कई बार श्रोता या पाठक का तादात्म्य आश्रय से नहीं हो पाता, उस स्थिति में काव्य का आलम्बन सहृदय के उसी भाव का आलम्बन नहीं बन पाता जिस भाव का आलम्बन वह आश्रय के लिए है। राम मथरा की दुर्भावना के आलम्बन हैं, लेकिन वे पाठक या श्रोता के उस भाव के आलम्बन नहीं होते। इस स्थिति का समाधान यह है कि काव्य का कोई पात्र सहृदय के उसी भाव का आलम्बन होता है जिस भाव का आलम्बन वह रचनाकार का बन रहा है।[3] शुक्लजी ने स्पष्ट शब्दों में यह विचार प्रकट किया है। लेकिन यह मान लेने पर एक दूसरी समस्या उत्पन्न होती है। कुछ पात्र कवि के अपने भाव के वाहक न होकर उसके प्रेषण के विषय होते हैं। उदाहरण के लिए 'मानस' की मथरा कवि की भावना की वाहक न होकर उसके धिक्कार की पात्र है। वह पाठक या श्रोता के भी धिक्कार का आलम्बन बनती है, लेकिन वाल्मीकि रामायण की मथरा न तो कवि की भावना की वाहक है, न उसके धिक्कार का आलम्बन। वाल्मीकि ने मथरा के प्रति प्रशंसा या निंदा की भावना से ऊपर उठकर उसके स्वभाव की परतें खोली हैं—एक प्रेक्षक के रूप में परम तटस्थ भाव से उसका चरित्र अंकित किया है। फलतः वाल्मीकि रामायण के पाठक को मथरा के चरित्र का ज्ञान होता है, उसके प्रति कोई भाव उसके मन में नहीं जागता। ऐसी स्थिति में पात्र के चरित्र का बिम्ब तो उभरता है, लेकिन रसानुभूति भी होती है, यह कहना कठिन है। इस कठिनाई को स्वीकार करते हुए भी शुक्लजी ने इस स्थिति को रस-दशा मानने का आग्रह किया है। उनका कहना है कि 'यह दशा भी एक प्रकार की रस

१ रस मीमांसा, पृ० ३११
२ वही, पृ० ३१२
३ वही, पृ० ३१४

दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता।"[१]

यहाँ आकर शुक्लजी रस सिद्धांत की सीमा का लाँघन प्रतीत होते हैं। रस की परम्परागत धारणा का अतिक्रमण करते हुए उन्होंने 'शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव को भी 'रस' के भीतर समेट लिया है, लेकिन ऐसा करते समय यह स्पष्ट कर दिया है कि यह एक अलग तरह की ही रसानुभूति होती है 'शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं।'[२] शुक्लजी के इन शब्दों में यह बात झलक रही है कि शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न रसानुभूति का सिद्धांत परम्पराविहित और शास्त्रानुमोदित नहीं है इसलिए उन्होंने इसे 'रस की एक नीची अवस्था' तक कह दिया है।[३] जयशंकर 'प्रसाद' ने अपने 'रस' संबंधी लेख में इस अवस्था को रस की नीची अवस्था मानने का प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि वस्तुतः यह रस दशा तक पहुँचने का सोपान है।[४] सही बात यह है कि रस का आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन के साधारणीकरण के संबंध से देखने पर यह बात हमारे ध्यान में नहीं आती कि रसानुभूति स्थिति संजना पर निर्भर करती है—आश्रय और आलम्बन रस स्थिति के अंग ही होने के नाते प्रासंगिक होते हैं। लेकिन यह मान लेने पर इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन हो जाता है कि संसार की अनेक साहित्यिक कृतियाँ रस स्थितियों के बिना ही सहृदयों का कंठहार रही हैं तो क्या रस के बिना भी कोई कृति साहित्यिक या काव्यात्मक हो सकती है? यदि कोई काव्यकृति पात्र विशेष के शील का परिज्ञान ही कराए या किसी समस्या को हमारी संवेदना में भावावेग को उद्दीप्त किए बिना उभार दे, तो शास्त्रीय दृष्टि से रसात्मक न होने पर ऐसी कृति को साहित्यिक या काव्यात्मक कैसे कहा जाए? इस समस्या से निपटने के लिए शुक्लजी को रस की एक नीची अवस्था की कल्पना करनी पड़ी[५] जिससे उन कृतियों को भी काव्य के अंतर्गत रखा जा सके जिनमें परम्परागत अर्थ में रस उपलब्ध नहीं है।

लेकिन इससे यह तो प्रकट हो ही गया कि शुक्लजी के सामने ऐसी कृतियों को भी रसात्मक मानने का सवाल आ गया था जिनसे पात्र विशेष के शील का परिज्ञान ही होता है। इसी आवश्यकता ने 'भाव विधायक' काव्य से भिन्न 'भाव प्रदर्शक काव्य की

---

१ रस मीमांसा, पृ० ३१३
२ वही, पृ० ३१५
३ वही, ३१३
४ अभिषेक में रस विषयक लेख द्रष्टव्य है।
५ रस मीमांसा, पृ० ३१३

नई कोटि की कल्पना करने के लिए उन्हें प्रेरित किया।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि अंततः शुक्लजी ने भाव संवेदन के घेरे से निकलकर 'बोध' के महत्व को भी स्वीकार कर लिया, लेकिन वे 'भाव' से हटकर 'रूप' को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं हुए। निश्चय ही आधुनिक कलाबोध ने उन्हें प्रभावित किया था, लेकिन एक सीमा के आगे नहीं।

'रस' की रूढ़ अवधारणा को अपर्याप्त पाकर शुक्लजी ने कई प्रकार से उसे नई अर्थवत्ता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। प्रकृति वर्णन के सौन्दर्य को रस के अंतर्गत रखने का आग्रह भी एक ऐसा ही प्रयत्न था। 'कविता क्या है ?' के द्वितीय आलेख (१९२२) में उन्होंने लिखा "जिनकी आँखों के आगे 'कुमारसम्भव' का हिमालय-वर्णन और 'मेघदूत' का नाना प्रदेश वर्णन नाच रहा था, वे स्पष्ट देख सके कि प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण शृंगार के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नहीं है, शुद्ध वर्णन के निमित्त, हृदय अंकित करने के निमित्त है। उन्होंने रस की नौ नालियों के भीतर ऐसे शुद्ध वर्णनों के लिए कोई गड्ढा न पाकर 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' से असंतोष प्रकट किया। पर असंतोष नाली बनाने वालों के प्रति होना चाहिए था, रस सिद्धान्त के प्रति नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में एक प्रकार का रस अवश्य है, चाहे उसे अनिर्वचनीय कहिए, चाहे उसका कोई नाम रखिए, चाहे उसे किसी रस के भीतर कीजिए।"[2]

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में 'रस' काव्यानुभूति का दूसरा नाम है, काव्यानुभूति का एक प्रकार नहीं। इसलिए उन्होंने लक्षण निर्धारण और वर्गीकरण का रास्ता छोड़कर विवेचन और विश्लेषण का पथ ग्रहण किया है। उन्होंने रस को अध्यात्म दर्शन के धरातल से हटाकर ऐहिक स्तर पर उसका विचार किया है। यही कारण है कि उन्होंने उसे आत्मा की मुक्तावस्था न कहकर उसके समांतर हृदय की मुक्तावस्था कहा। एक स्थान पर उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि "इस मुक्त हृदय को व्यापक आत्मा का ही अंश समझना चाहिए"।[3] लेकिन उनका यह कथन रस चर्चा के प्रसंग में 'आत्मा' की परम्परानुमोदित प्रतिष्ठा में अपने मत की संगति बिठाने की आकांक्षा से प्रेरित प्रतीत होता है।

'रस' को काव्यास्वाद के रूप में लेते हुए भी शुक्लजी ने उसका विचार रसाद्रेक के कोण से उतना नहीं किया है जितना काव्यगत विधान की दृष्टि से। 'रस मीमांसा' का एक बड़ा भाग 'भाव' की चर्चा को समर्पित है तो दूसरा बड़ा भाग रस विधान में कल्पना की भूमिका का। 'रस' के सम्बन्ध में अप्रस्तुत विधान की चर्चा उन्होंने विस्तार से की है और रस योजना में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी है। इससे यह संकेत भी

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७

२ सुधाकर पाण्डेय, आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबंध, पृ० ६७ (१९८३)

३ रस मीमांसा, पृ० ३३५

मिलता है कि शुक्लजी काव्य कृति की संघटना से रस का गहरा संबंध मानते थे। साध्य उन्होंने रस को ही माना है, लेकिन उसे उसके विधान के साथ रखकर देखा है।

शुक्लजी ने रस को मनुष्य से मनुष्य को जोड़ने वाली शक्ति के रूप में देखा है, इसलिए उन्हें नई समीक्षा का वह सिद्धांत आपत्तिजनक लगा है जिसके अनुसार "कृति ही प्रधान वस्तु कही जाने लगी है और उसकी सत्ता कवि और श्रोता (या पाठक) दोनों से स्वतंत्र ठहराई जाने लगी है।[१] उनकी आपत्ति इस बात को लेकर है कि यह मान्यता स्वीकार करने से काव्य की सम्प्रेषणधर्मिता के स्थान पर उसकी रूप रचना की प्रतिष्ठा होती है जिससे मनुष्यों के बीच के भाव-सम्बन्ध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

इस स्तर पर शुक्लजी की दृष्टि में 'रस' काव्यास्वाद से ऊपर उठकर मनुष्यता का साधक बन जाता है। ध्यान देने की बात है कि उन्होंने 'रस' का सम्बन्ध पात्र के शील से जोड़ा है

> "उच्च लक्ष्य रखने वाले, मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण करने की सामर्थ्य रखने वाले प्रबन्ध-काव्य या नाटक के चरित्र चित्रण का आधार 'शीलदशा' ही है। रामायण में राम की धीरता और गम्भीरता, लक्ष्मण की उग्रता और असहनशीलता, बड़ों के प्रति भरत की श्रद्धा भक्ति इत्यादि का चित्रण भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों के प्रति किए हुए व्यवहारों के मेल से ही हुआ है। आलम्बन का स्वरूप संघटित करने में उपादान रूप होकर 'शीलदशा' रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है। आश्रय की दृष्टि जिस प्रकार आलम्बन के बाह्य रूप पर जाती है, उसी प्रकार उसके आभ्यंतर स्वरूप पर भी जाती है। इस आभ्यंतर स्वरूप की योजना भिन्न भिन्न शीला में ही होती है।"[२]

इस मोड़ पर शुक्लजी की रस दृष्टि मूल्य भावना से सम्पृक्त हो गई है।

काव्य में ही नहीं, जीवन में भी शुक्लजी ने रसानुभूति की सत्ता मानी है। जब जब व्यक्ति अपने निजी योग क्षेम की भावना के संकीर्ण घेरे से निकल कर लोकहित साधक व्यक्ति के प्रति उसी अनुभूति से आन्दोलित होता है जिससे दूसरे लोग आंदोलित हैं, तो उसे भी शुक्लजी रसदशा मानते हैं। जब जीवन में किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति हमारे भाव उद्बुद्ध होते हैं जो सभी के—कम से कम सहृदयों के—समान भाव का आलम्बन हो सकता है, तब, शुक्लजी के अनुसार, वह साधारणीकरण की ही स्थिति

१ रस मीमांसा, पृ० ३३४

२ वही, पृ० १८९

होती है और उस स्थिति मे हमारी अनुभूति—काव्यानुभूति न होने पर भी—रसानुभूति ही होती है।[1]

शुक्लजी ने प्रत्यक्ष या व्यावहारिक जीवन म सभी रसो की अनुभूति की समान सम्भावना न मानकर अलग-अलग रसो की अनुभूति अलग-अलग मात्रा मे सम्भव मानी है। वीर रस के सम्बध मे उन्होने प्रत्यक्ष जीवन की रसानुभूति का सम्बध लोककल्याण की भावना मे जोड दिया है 'अपने निज के लाभ वाले विकट कम की ओर जो उत्साह होगा वह तो रसात्मक न होगा, पर जिस विकट कम को हम लोककल्याणकारी समझेंगे, उसके प्रति हमारे उत्साह की गति हमारी व्यक्तिगत परिस्थिति के सकुचित मण्डल से सम्बद्ध न होकर बहुत व्यापक होगी। स्वदेशप्रेम के गीत गाते हुए नवयुवको के दल जिस साहसभरी उमग के साथ कोई कठिन या दुष्कर काय करने के लिए निकलते हैं वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है।"[2] इस बिन्दु पर आकर रसात्मकता और लोकमगल एक-दूसरे म समा जाते हैं। शुक्लजी ने इन दोनो को एक स्तर पर रखते हुए लिखा है "मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष है वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष है और बराबर रहेंगे। काव्य कला की पूरी रमणीयता इन दोनो पक्षो के मध्य समन्वय के बीच मगल या सौन्दय के विकास मे दिखाई पडती है।'[3]

ऊपर उद्धृत शब्दो म शुक्लजी ने मगल और सौन्दय का समीकरण करने के साथ ही रस के जीवन सदभ की व्यापकता पर भी प्रकाश डाला है। शुक्लजी की मान्यता थी कि रस की अपनी शक्ति उसके जीवन सदर्भित होने म ही निहित है। कल्पना की स्वतत्र सृष्टि के विरोध म उन्होने इसी कारण से भाव जगा सकने वाले रूपो की सृष्टि करने वाली कल्पना के पक्ष म अपना मत व्यक्त किया है 'कल्पना की वही रूप योजना काव्य के अन्तगत आ सकती है जो श्रोता या पाठक के मन म कोई भाव जगा सकने मे समथ हो, भाव जगाने मे वही रूप योजना समथ होगी जो जगत या जीवन का कोई गूढ या मार्मिक तथ्य सामने लाएगी जो विश्व के किसी अनुरजनकारी, क्षोभकारी या विस्मयकारी विधान का चित्र होगी।'[4]

काव्य के जीवन सदर्भित होने पर बल देते हुए जब शुक्लजी ने 'रस की सत्ता का विस्तार काव्य क्षेत्र से आगे ले जाकर प्रत्यक्ष या व्यावहारिक जीवन तक कर दिया

---

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४८

२ रस मीमासा, पृ० २७२

३ वही, पृ० ६४२

४ वही, पृ० ३०३–४

तो उनके सामने कठिनाई यह आई कि जीवन की अनुभूतियाँ सुख दु खात्मक होती है, जबकि रसानुभूति प्राय आनदात्मक मानी जाती रही है। इस उलझन से मुक्ति के लिए उन्होंने रसानुभूति की प्रक्रिया की व्याख्या अपने ढग से करते हुए रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण बतलाए है

> "(१) अनुभूति काल मे अपने व्यक्तित्व के सबध की भावना का परिहार और
>
> (२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदयमात्र के साथ साधारणीकरण, अर्थात उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयो के हृदय मे उसी भाव का उदय।"[१]

फिर भी शुक्लजी की यह परेशानी दूर हो नही पाई कि यदि प्रत्यक्ष जीवन मे भी रसानुभूति हो सकती है,तो उसे आनदात्मक कैसे माना जाए। रस मीमासा म पृष्ठ ८९ पर उन्होंने 'रस' को 'प्रत्येक' दशा मे आनदस्वरूप बतलाया जबकि उसी ग्रथ मे पृष्ठ १०१ पर उन्होंने लिखा मेरी समझ मे रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनद' शब्द से व्यक्त नही होता। पृष्ठ २७३ पर उन्होंने यह कहकर इस विरोध का परिहार करने का प्रयत्न किया है "आनद शब्द को व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ मे ग्रहण करना मुझे ठीक नही जँचता। उसका अर्थ मैं व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया मे तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।" लेकिन अगले ही क्षण करुण रस की बात उठाते हुए वे 'शोक' को आनदात्मक कहने म हिचक गए है "करुण रस प्रधान नाटको के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध म यह कहना कि 'आनद मे भी तो आसू आते है' केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव म दुःख का अनुभव करते हैं।" इस स्थिति म उन्होंने करुण रस की अनुभूति आनदात्मक न मानकर 'रसात्मक' ही मानी है।

इस विचार प्रणाली म 'रस' की आध्यात्मिकता के लिए कोई अवकाश नही था। शुक्लजी इस दृष्टि से सस्कृत आचार्यों के पथ से हटे हुए दिखलाई देते हैं कि उन्होंने रस निष्पत्ति की व्याख्या के लिए न तो किसी अध्यात्म दर्शन का सहारा लिया है न रस के स्वरूप पर विचार करते हुए 'आत्मसविद' और 'स्वप्रकाशानद चिन्मय' जैसे शब्दो का प्रयोग किया है। इसके विपरीत उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे कहा है "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अनुभूति नही है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।

'रस' को वास्तविक या लौकिक अनुभूति के स्तर पर रखकर शुक्लजी ने उसे एक नया आयाम प्रदान किया है। 'रस' के स्वरूप विश्लेषण के लिए उन्होंने मनो

१ रस-मीमांसा, पृ० २७०

व्यापार के विविध पक्षों पर जो विचार किया है, उससे स्पष्ट है कि वे रस को एक मानसिक प्रक्रिया मानते थे।

शुक्लजी के रस चिन्तन के केन्द्र में मनोविज्ञान के आ जाने से वह परम्परागत शास्त्रीय तर्क पद्धति से मुक्त हो गया है। 'आश्रय', 'आलम्बन' 'उद्दीपन', 'अनुभाव' 'व्यभिचारी भाव' जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग शुक्लजीने अवश्य किया है और रसानुभूति की प्रक्रिया की व्याख्या के लिए साधारणीकरण पर विचार करते हुए उसी के आधार पर वे 'रस' को काव्य क्षेत्र से बाहर तक खींच ले गये हैं लेकिन उत्पत्तिवाद अनुमितिवाद भुक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के गोरखधंधे से वे दूर रहे हैं। 'विभाव' के नाना रूपों पर विचार करने के स्थान पर उन्होंने रस विधान में विभावन की भूमिका पर विचार किया है तथा अनुभावों और संचारी भावों के परिगणन के स्थान पर उन्होंने रस के संबंध में भाव संस्थानों में उनकी गतिविधि का विवेचन किया है।

इसलिए शुक्लजी के रस सम्बन्धी विचारों में ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने किसी बने-बनाए सिद्धान्त को समझाने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत लगता यह है कि उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के मर्म का अन्वेषण अपने ही ढंग और अपनी ही दृष्टि से किया है। उनका यह कार्य काव्यास्वाद की समस्या पर विचार करने से आरम्भ हुआ है और उसमें काव्यविधान के योगदान को समझने की दिशा में आगे बढ़ा है।

यही कारण है कि एक ओर विभाव पक्ष के संबंध से प्रकृति वर्णन में भी उन्होंने रस की सत्ता प्रमाणित की है, तो दूसरी ओर अप्रस्तुत विधान का विचार भी रस के संदर्भ में किया है। रस के लिए प्रयोजित और रस विधान के प्रयोजन से निर्दिष्ट अप्रस्तुत योजना को उन्होंने काव्य के लिए मूल्यवान माना है।

रस के विषय में परम्परागत भारतीय विचार पद्धति से हटते हुए भी शुक्लजी ने अनेक बार 'हमारे यहाँ' की दुहाई दी है तो इसका कारण यह है कि पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में 'कला' के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि उन्हें उस मानवीय भूमि से हटी हुई दिखलाई दी जिस पर साहित्य की महिमा को वे निर्भर मानते थे। लेकिन उनके सामने यह बात बहुत स्पष्ट थी कि साहित्य में मानवीय भावना का कितना ही महत्त्व क्यों न माना जाए कलात्मक प्रतिफलन के बिना उसका कोई अर्थ नहीं होता। इसीलिए उन्होंने काव्य में हृदय की मुक्तावस्था के लिए शब्द विधान के आयोजन को अभीष्ट बतलाया और अर्थग्रहण को अपर्याप्त कहकर बिम्बग्रहण को महत्त्वपूर्ण माना।

लेकिन उनके विचारों में यह संतुलन अंत तक बना नहीं रह सका। उनकी रस-सम्बन्धी अवधारणा में मानवीय पक्ष के प्रति आग्रह कहीं-कहीं इस सीमा तक बढ़ गया कि सौन्दर्य और मंगल के बीच की सीमारेखा ही उनकी दृष्टि से ओझल हो गई और उन्हें रस की सत्ता काव्य या शब्द विधान के बाहर भी दिखलाई देने लगी। जो

सिद्धांत काव्यास्वाद की समस्या को समझने के प्रयत्न से उत्पन्न हुआ था, वह अपने मूल से हटाए जाने पर शुक्लजी के लिए एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर गया जिसे सुलझाने का कोई रास्ता उन्हें दिखलाई नहीं दिया। 'रस' की अवधारणा को काव्य-क्षेत्र से बाहर ले जाने पर उनके सामने यह समस्या आई कि शोक करुण रस बनकर आनन्द में कैसे परिणत हो जाता है। इस प्रश्न ने शुक्लजी को बहुत परेशान किया, किन्तु वे इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं खोज पाए क्योंकि वे रस को इस अर्थ में भी लोकोत्तर नहीं मानते थे कि काव्यगत भाव की परिणति होने के कारण वह हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार में उद्‌बुद्ध भावों से प्रकृत्या भिन्न होता है।

रस की नैतिकता के प्रति शुक्लजी का आग्रह 'कलावाद' की जीवन निरपेक्ष विचार दृष्टि की प्रतिक्रिया से उद्‌भूत प्रतीत होता है। आधुनिक कला चिन्तन के साथ सम्पर्क की परिणति उनके काव्य चिंतन में दोहरी दिखलाई देती है। उसके फलस्वरूप एक ओर वे रस को काव्यास्वाद की व्याख्या से आगे काव्यविधान के विचार की दिशा में ले गए, तो उसी के फलस्वरूप दूसरी ओर उन्होंने उसकी लोकोत्तरता का सर्वथा निषेध किया। इतना ही नहीं रस को मानवीयता के उद्रेक के रूप में उपस्थित कर उन्होंने उसमें एक नैतिक अभिप्राय भी जोड़ दिया।

अपनी समग्रता में आचार्य शुक्ल की रस दृष्टि काव्य तक परिरुद्ध नहीं रही है, वे उसे लोकमंगल से प्रेरित सामूहिक भावैक्य की साधारणीकृत अनुभूति और स्मृति जन्य कल्पना के आनंद तक ले गए हैं, लेकिन इसे उनके काव्य चिंतन का विस्तार ही मानना उचित होगा क्योंकि उनकी मूल चिंता काव्यानुभूति और काव्यविधान से संबंधित रही है। 'रस' में नैतिकता सम्बन्धी उनका आग्रह जहाँ प्रबल हुआ है वहाँ भी भाव की उदात्तता के आगे नहीं गया है। यही कारण है कि नैतिक आग्रह के बावजूद शुक्लजी की रस दृष्टि नंदतिक बनी रही है।

अध्याय ४

आचार्य शुक्ल की साहित्याशंसा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य-दृष्टि को समझने के लिए उनके घोषित सिद्धान्तों का अनुशीलन पर्याप्त नहीं है। किसी भी साहित्य चिन्तक का मत जितना उसके सिद्धान्त प्रतिपादन से प्रकट होता है उतना ही उसकी साहित्याशंसा से भी व्यक्त होता है। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति भी सामने आती है कि समीक्षक समीक्षा सिद्धान्तों की आवश्यकता और महत्ता को अमान्य ठहराते हुए कृति विशेष के आकलन की व्यक्तिमत्ता में ही अपना विश्वास व्यक्त करता है, फिर भी कृति-विशेष की वह उसकी आशंसा में उसके समीक्षा सिद्धान्त झलक जाते हैं। प्रोफेसर पाल ज़िफ़ ने समीक्षा के सैद्धान्तिक आधार की आवश्यकता का निषेध करते हुए चित्रकार पूसिन के एक चित्र 'रेप ऑफ द सेबाइन वुमेन' की समीक्षा प्रस्तुत की और कहा कि इस चित्र के विषय में जो कहा गया है, वह केवल इसी चित्र के विषय में कहा जा सकता है, किसी और कृति के विषय में नहीं। मॉरिस में डेलबाम ने प्रोफेसर ज़िफ़ की उस टिप्पणी में से वे बातें छाँट लीं जो उसकी कला के मूल्यांकन से सम्बन्धित थीं। उन बातों के आधार पर उन्होंने ज़िफ़ के कला सिद्धान्त खोज निकाले। इस प्रकार किसी घोषित समीक्षा दृष्टि के बिना भी गर्भित समीक्षा-दृष्टि का अस्तित्व हो सकता है। इससे जुड़ी हुई सचाई यह भी है कि घोषित समीक्षा सिद्धान्तों के साथ साथ गर्भित समीक्षा सिद्धान्त भी हो सकते हैं। गर्भित समीक्षा सिद्धान्त घोषित समीक्षा सिद्धान्तों के अनुरूप भी हो सकते हैं और विरुद्ध भी। अनुरूप होने पर वे घोषित सिद्धान्तों के पूरक हो सकते हैं क्योंकि घोषित सिद्धान्तों में जो बातें छूट गई हैं या जिन पर कम बल दिया गया है, वे गर्भित सिद्धान्तों में उभर सकती हैं। प्रतिकूल होने पर वे समीक्षक की कथनी और करनी के विरोध को उजागर कर सकती हैं। आचार्य शुक्ल ने सिद्धान्त प्रतिपादन के अतिरिक्त जो साहित्य-समीक्षा की है, उसके अनुशीलन से ऐसी कुछ महत्त्वपूर्ण सच्चाइयाँ हमारे हाथ लग सकती हैं जो उनके सिद्धान्त प्रतिपादन में या तो उभरी नहीं हैं या दूसरे दूसरे बलों की अधिकता के कारण हमारे अवधान से वंचित रह जाती हैं। इसलिए उनके सैद्धान्तिक कथनों के अलावा उनकी साहित्याशंसा में गर्भित सिद्धान्तों को सामने रखकर ही उनकी साहित्य दृष्टि ठीक से समझी जा सकती है।

शुक्लजी ने मलिक मोहम्मद जायसी, सूरदास और तुलसीदास के काव्य की विस्तृत समीक्षा की थी। इन समीक्षाओं में कवि की भावुकता, रचना के मार्मिक प्रसंगों, कवि की विचारधारा, चरित्र चित्रण और काव्यरूप विचार से लेकर रस, अलंकार, वाग्वैदग्ध्य और भाषा तक का विचार किया गया है। कवि की लोकोन्मुखता का विचार भी उन्होंने आवश्यकतानुसार किया है। उक्त कवियों की समीक्षाओं में इन पक्षों में से जहाँ जो पक्ष उन्हें विचारणीय प्रतीत हुआ है, वहीं वहाँ उठाया गया है, लेकिन **हिन्दी साहित्य** का इतिहास में उन्हें उन सभी कवियों और लेखकों के कृतित्व पर अपना अभिमत प्रकट करने का अवसर मिला है जो उनकी जानकारी में आ चुके थे। ध्यान देने की बात है कि विस्तृत समीक्षा के लिए उन्होंने जो तीन कवि चुने थे, वे तीनों भक्तिकाल के थे, जबकि 'इतिहास' में उन्होंने आदिकाल से छायावाद तक के कवियों और लेखकों के साहित्य की आशंसा की है। स्पष्ट है कि 'इतिहास' में उनके सामने समीक्ष्य सामग्री अधिक वैविध्यपूर्ण रही है। इसलिए 'इतिहास' में उपलब्ध साहित्याशंसा में उनकी साहित्य दृष्टि के अधिकाधिक पक्ष भी उन्मीलित हुए हैं। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'इतिहास' में युग विशेष के साहित्य के समष्टिगत आकलन और एक एक रचनाकार पर व्यक्तिशः जो विचार किया गया है, उससे यह बात बहुत साफ हो सकती है कि शुक्लजी ने साहित्य को किस सीमा तक जातीय अभिव्यक्ति और किस सीमा तक व्यक्ति-कलाकार के अपने पुरुषार्थ के रूप में देखा है तथा उनकी साहित्याशंसा के इन दोनों स्तरों में कितनी अनुकूलता, प्रतिकूलता या नानाविधता है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा गया था **हिन्दी शब्दसागर** की भूमिका के रूप में। इस इतिहास में शुक्लजी ने अपनी भाषिक परम्परा की खोज साहित्य के संदर्भ में की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे एक ओर भाषिक परम्परा को साहित्यगत भाषिक उत्कर्ष के आयामों में जोड़ते चले हैं तो दूसरी ओर साहित्य में व्यक्त सर्जनात्मक अभिप्रेरणाओं का लोकचित्त पर पड़ने वाले प्रभावों के साथ भी रखते रहे हैं। ऐसा करते समय साहित्य की साहित्यिकता का ध्यान उन्होंने सर्वत्र रखा है। सिद्धों और नाथ योगियों की रचनाओं की चर्चा करते समय उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं।'[1] फिर भी उन्होंने दो कारणों से इन रचनाओं की चर्चा की है। पहला कारण है भाषा। 'सिद्ध कण्हपा की रचनाओं को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो एक बात साफ झलकती है। वह यह कि उनकी उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिन्दी (काव्यभाषा) है, पर गीता की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी' और 'रमैनी' की भाषा में पाते हैं। 'साखी' की भाषा तो खड़ीबोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कड़ी'

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२

भाषा है, पर रमैनी के पदो की भाषा म काव्य की ब्रजभाषा और कही-कही पूरबी वाली भी है।"[१] दूसरी बात है भावो और विषय वस्तु की परम्परा की। वज्रयानी सिद्धो ने "वाह्य पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया, रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानो का तिरस्कार करने और मनमाने रूपको के द्वारा अटपटी बानी मे पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र, नाडिया, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद', 'बिंदु', 'सुरति', 'निरति' ऐसे शब्दो की उद्धरणी करना सिखाया। यही परम्परा अपने ढग पर नाथपथियो ने जारी रखी। आगे चलकर भक्तिकाल म निर्गुण सत सम्प्रदाय—वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफिया के प्रेमभाव तथा वैष्णवो के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिला कर सिद्धो और योगियो द्वारा बनाये हुए रास्ते पर चल पडा ।'[२] शुक्लजी के इन शब्दा से यह प्रकट होता है कि उन्होने साहित्य की पूर्वपीठिका और साहित्यिक मूल्य वत्ता म भेद किया है। साहित्य की पूर्वपीठिका के रूप म सिद्धा और नाथा की 'बानी का सम्बन्ध भाषा तथा विषय वस्तु दोना रूपो म आगे के निर्गुण सत सम्प्रदाय से मानते हुए भी शुक्लजी ने उनकी बानिया का साहित्यिक मूल्य अस्वीकार कर दिया है।

शुक्लजी की उपयुक्त टिप्पणी म यह निहित है कि साहित्य भाषिक रचना की एक परम्परा मे विकसित होता है और उसमे विषय वस्तु भी रहती है, फिर भी जो चीज साहित्य को साहित्य बनाती है, वह न ता भाषिक रचना की परम्परा है, न विषय-वस्तु। इन दोनो दृष्टियो से हिन्दी का सत साहित्य सिद्धो और नाथो की बानिया से सम्बन्धित है, फिर भी शुक्लजी ने सिद्धो और नाथा की बानिया का साहित्य मानने से इन्कार कर दिया है, जबकि कबीरादि सतो की वाणी के सम्बन्ध म उन्होंने ऐसी दो टूक बात कही नही कही है। कबीर के काव्य की साहित्यिकता के विषय म सीधे कुछ न कह कर उन्होंने उनकी उक्तिया के 'विलक्षण प्रभाव' और 'चमत्कार' की बात कहते हुए उनकी प्रतिभा की प्रखरता स्वीकार की है। साथ ही उन्होने कबीर की भाषा के परिष्कृत और परिमार्जित न होने की शिकायत भी की है।[३] इससे लगता है कि साहित्य का उत्कर्ष वे भाषा प्रयोग की निपुणता और प्रतिभा के उन्मेष म मानते थे।

भाषिक रचना की परम्परा और रचनाकार विशेष द्वारा रचित कृति म भाषिक उत्कर्ष इन दोना को शुक्लजी ने अलगाया है। भाषिक रचना की एक ही

---

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २३

२ वही, पृ० २३ २४

३ "भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तिया मे कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमे बड़ी प्रखर थी, इसमे सदेह नही।'—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८२

परम्परा मे रचनाकार-विशेष के कृतित्व मे भाषिक उत्कर्ष उसकी अपनी प्रतिभा के उन्मेष पर निर्भर रहता है। पहली बात का सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से है तो दूसरी का साहित्य समीक्षा से। हिन्दी साहित्य का इतिहास मे शुक्लजी की साहित्याशसा ने भाषा प्रयोग के इन दोनो पक्षो को अगीकार किया है। सिद्धो और नाथो की बानियो की साहित्यिकता को अमान्य ठहराते हुए भी उनकी चर्चा का उन्होने भाषिक परम्परा के नाते प्रासगिक बतलाया है और इसी नाते वे साहित्यिक परम्पराओ की चर्चा करते समय हिन्दी की उपभाषाओ—ब्रज, अवधी, खडीबोली—तथा पूरबी और पश्चिमी भाषिक परम्पराओ की बात उठाते रहे हैं।

भाषिक परम्परा के साहित्यिक विकास का प्रश्न भाषा विशेष के साहित्य के गौरव बोध से भी जुडा हुआ है। यही कारण है कि 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप मे लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे शुक्लजी ने तुलसीदास को हिन्दी के गौरव के रूप मे प्रस्तुत किया है 'यह एक कवि ही हिन्दी को एक प्रौढ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए काफी है।'[१] भारतेन्दु को भी उन्होने हिन्दी के उद्धारकर्ता के रूप मे देखा है 'भारतेन्दु ने जिस प्रकार हिन्दी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार ब्रज भाषा का भी।'[२] इसी सम्बन्ध से उन्होंने जयशकर 'प्रसाद' की भी प्रशसा की है "सस्कृत की कोमलकात पदावली का जैसा सुन्दर चयन ब्रजभाषा के काव्य मे हुआ, वैसा अन्य देशभाषाओ के साहित्य मे नही दिखाई पडता। उनके परिशीलन से पद लालित्य की जो गूज प्रसादजी के मन मे समाई, वह बराबर बनी रही।"[३]

प्रसाद के मामले मे शुक्लजी ने साहित्य की भाषिक परम्परा मे व्यक्ति रचनाकार की प्रतिभा का मूल्याकन किया है। अपने 'इतिहास' मे वे साहित्य की चर्चा के अतर्गत रचनाकारो की भाषिक क्षमता के सम्बन्ध से उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का मूल्याकन बराबर करते चले है। सर्जन की समीक्षा मे माध्यम के प्रयोग की अनदेखी उन्होने शायद ही कही की हो। कोई-कोई कवि तो अपनी भाषिक क्षमता के कारण ही उनकी दृष्टि मे बहुत चढ गया है और किसी किसी कवि के भाषिक अनाचार ने उसे उनकी दृष्टि मे लाछित भी किया है। घनानद ने अपने भाषा सामर्थ्य के लिए शुक्लजी की प्रशसा अर्जित की है 'भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर उन्होने उसे अपनी ओर से नई शक्ति प्रदान की है। घनानद उन विरले कवियो मे है जो भाषा की व्यजकता बढाते है। अपनी भावनाओ के अनूठे रूप रग की व्यजना के लिए भाषा का ऐसा बेधडक प्रयोग करने वाला दूसरा कवि नही हुआ।'[४] बिहारी भी अपने

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४२
२ वही, पृ० ५८६
३ वही पृ० ६४७
४ वही, पृ० ३२२

भाषिक अनुशासन के लिए शुक्लजी की प्रशंसा अर्जित करने मे सफल हुए हैं। शुक्लजी ने लिखा है कि बिहारी की 'वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूप का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है।"[1] शब्दाडम्बररहित और चलती भाषा के लिए उन्होंने रसखान की प्रशंसा की है।

दूसरी ओर भाषा का अगभग करने वाले कवियों के प्रति शुक्लजी का अननुमोदन भी बहुत साफ दिखलाई देता है। केशवदास की तीखी आलोचना उन्होंने उनकी हृदयहीनता को लेकर ही नही की है, अनगढ भाषा को लेकर भी शुक्लजी ने उन पर प्रहार किया है "भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए था, वह उन्हे प्राप्त नही था।"[2] केशव की भाषिक अक्षमता के एक एक पक्ष को उठाते हुए उन्होंने लिखा है 'पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त, फालतू शब्दो के प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्राजल और ऊबड खाबड हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नही हो सका है।' केशव के काव्य से शुक्लजी का असतोष बहुमुखी है, लेकिन भाषा नैपुण्य का अभाव पाकर वे भूषण और देव के काव्य से भी सतुष्ट नही हुए है। इन कवियो की भाषा पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है "भूषण और देव ने शब्दो का बहुत अगभग किया है और कही-कही गढत शब्दो का व्यवहार किया है।[3]

दो कवियो की तुलना करते समय भी शुक्लजी ने भाषा को उनके रचना-सामर्थ्य के मूल्याकन का एक प्रतिमान बनाया है। सूर और जायसी की तुलना मे तुलसी को बडा कवि सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो तर्क दिए है उनमे भाषा की दृष्टि से तुलसीदास का अधिक समर्थ होना सम्मिलित है। उनका कहना है कि तुलसीदास का 'ब्रज और अवधी दोनो भाषाओ पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर मे पाते है वही माधुर्य और भी सस्कृत रूप मे हम गीतावली और कृष्णगीतावली मे पाते है। ठेठ अवधी की जो मिठास हम जायसी की पदमावत मे मिलती है वही जानकीमगल, पार्वतीमगल बरवै रामायण और रामलला नहछू मे हम पाते है। यह सूचित करने की आवश्यकता नही कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था, न जायसी का ब्रज भाषा पर।[4] शुक्लजी को इतने से सतोष नही हुआ है। उन्हे सर्जनात्मक दृष्टि से भी तुलसीदास की भाषा सूरदास की भाषा की तुलना मे अधिक उत्कृष्ट प्रतीत हुई

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६१

२ वही, पृ० २०१

३ वही, पृ० २०१

४ वही, पृ० २४१

५ वही, पृ० १३०

है। उनके मतानुसार 'सूरदास की रचना में कोमलकांत पदावली और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामी जी की रचना में है।'[१]

किसी कवि की प्रशंसा शुक्लजी ने जिन बातों के लिए की है उनमें शिल्प पर अधिकार भी है। संत साहित्य की पूर्वपीठिका के निर्माण की दृष्टि से सिद्धों और नाथों की वानियों की चर्चा को प्रासंगिक मानते हुए भी शुक्लजी ने उन्हें शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं रखा और कबीर जैसे संत कवि की प्रतिभा की दाद देते हुए भी उनके कृतित्व की साहित्यिकता पर वे चुप लगा गए, लेकिन सुंदरदास के विषय में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा 'इनकी रचना साहित्यिक और सरस है।'[२] ऐसा मानने के लिए उन्होंने जो आधार लिया है उसका सम्बन्ध शिल्प पर उनके अधिकार से है। उनके सुंदरविलास में कवित्त सवैयों में यमक, अनुप्रास और अर्थालंकारों की योजना देखकर वे संतुष्ट हुए हैं।[३] सुंदरदास के विषय में उन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है कि "निर्गुणपंथियों में यें ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्य कला की रीति आदि से परिचित थे।'[४] अन्य संत कवियों की तुलना में सुंदरदास में शुक्लजी को दो विशेषताएँ दिखलाई दी हैं (१) "अन्य संतों ने केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान कवित्त और सवैये रचे हैं,'[५] (२) इनकी रचना काव्य पद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों की रचना से भिन्न दिखलाई पड़ती है।'[६] सुंदरदास के विषय में शुक्लजी ने जो ये टिप्पणियाँ की हैं, उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी के कृतित्व को साहित्यिक मानने के लिए वे उनसे क्या अपेक्षा करते थे।

अन्य अनेक बातों के लिए केशवदास का बखिया उधेड़ते हुए भी जब वे उनके संवाद रचना-कौशल की प्रशंसा करते हैं तो लगता है कि शुक्लजी को उनकी थोड़ी बहुत प्रशंसा का आधार काव्यशिल्प में ही मिला है।

तुलसीदास की प्रशंसा शुक्लजी ने जिन बातों के लिए की है उनमें उनकी रचनाओं का शैलीगत वैविध्य भी सम्मिलित है। हिंदी साहित्य का इतिहास में शुक्लजी ने लगभग चार पृष्ठों में यही प्रतिपादित किया है। इस शैली वैविध्य को उन्होंने 'सर्वांगपूर्ण काव्यकुशलता' कहा है।[७]

१ हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १३१
२ वही, पृ० ८८
३ वही, पृ० ८९
४ वही, पृ० ८८
५ वही, पृ० ८८
६ वही, पृ० ८९
७ वही, पृ० १४१

फिर भी यह बात समझ रखनी चाहिए कि शुक्लजी ने शिल्प को एक सीमा के आगे महत्त्व नहीं दिया है। शिल्प के नाम पर चमत्कार प्रदर्शन या शब्दों का खिलवाड़ उन्हें कतई पसंद नहीं था। कोरी शिल्पगत निपुणता या कारीगरी उन्हें कोई बड़ी उपलब्धि नहीं जान पड़ती थी। बिहारी के काव्य शिल्प से वे प्रभावित थे, फिर भी बिहारी की उपलब्धि उन्हें बहुत नहीं जँची थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है "बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है, उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथीदाँत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं।'[१] शिल्प के प्रति अवधान के अतिरेक का प्रतिवाद शुक्लजी ने प्रायः सर्वत्र किया है। छायावादी काव्य शिल्प की रमणीयता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसके कमजोर पहलू की ओर ध्यान आकर्षित किया है। पंतजी के काव्य का उदाहरण सामने रखकर उन्होंने छायावादी काव्य शिल्प के विषय में लिखा है 'पंतजी की 'छाया', 'वीचि विलास', 'नक्षत्र' आदि में यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर-सा लगा है, उनमें से बहुत से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक हैं और बहुत से रंग बिरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यंजनावाद' के उदाहरण भी लगती हैं जिसके अनुसार कवि-कल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है।"[२] वस्तुपक्ष की क्षीणता के साथ शिल्प की समृद्धि के पक्ष में वे कतई नहीं थे, यह बात छायावादी काव्य शिल्प के विषय में उनकी इस टिप्पणी में झलकती है 'कुछ कवियों में वस्तु का आधार अत्यंत अल्प रहता है, विशेष लक्ष्य अभिव्यंजना के अधिक विस्तार पर रहा है। इससे उनकी रचनाओं का एक बड़ा भाग अधर में ठहराया सा जान पड़ता है।'[३] छायावाद के अभ्युदय के लिए शुक्लजी ने जो रास्ता सुझाया है, उसमें भी उनका ध्यान उसके शिल्प पक्ष पर रहा है "उसे अपनी चपलता और भावभंगिमा का प्रदर्शन क्रीड़ा कौतुक की प्रवृत्ति कुछ संयत करनी पड़ेगी। इस ऊँचे नीचे समपथ पर चित्रों का बहुत अधिक फालतू बोझ लादकर चलना भी वाणी के लिए उपयुक्त न होगा।'[४]

इससे यह धारणा मिट जानी चाहिए कि शुक्लजी की साहित्यशंसा में शिल्प का कोई स्थान नहीं था। यदि उनकी दृष्टि में शिल्प का कोई मूल्य न होता तो वे चित्रों के 'बहुत अधिक फालतू बोझ' की चिंता ही न करते। बिहारी की कारीगरी पर मुग्ध

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४२
२ वही, पृ० ६४४
३ वही, पृ० ६४४
४ वही, पृ० ६४५

होने को काव्य-समर्थता का परिचायक न मानते हुए भी वे उनकी कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति पर रीझे हैं। दूसरी ओर अपने अत्यंत प्रिय कवि तुलसीदास की रचना में भी उन्हें जहाँ शिल्पगत दुर्बलता दिखलाई दी है, वहाँ उन्होंने उसे उघाड़ा है। उनके लम्बे-लम्बे साग रूपकों के विषय में उन्होंने लिखा है "कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे साग रूपक बाँधने में अवश्य उन्होंने एक भद्दी परम्परा का अनुसरण किया है।"[1]

ऐसा लगता है कि शुक्लजी ने शिल्प का महत्त्व आनुषंगिक रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में शिल्प का उत्कर्ष काव्य के लिए आवश्यक है लेकिन शिल्प अपने-आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। कथ्य या अन्तर्वस्तु के महिमामय होने के साथ शिल्प भी समुन्नत होना चाहिए। कथ्य या अन्तर्वस्तु महिमामय होने पर भी यदि शिल्प अपरिपक्व हो, तो शुक्लजी उसकी अनदेखी नहीं करते। उसकी उपेक्षा करके काव्य की प्रशंसा वे कभी नहीं करते।

शुक्लजी ने शिल्प के विचार को कल्पना के विचार से अलग रखा है। अपने साहित्य-चिन्तन में कला को कल्पना की निराली दुनिया के रूप में स्वीकार न करते हुए भी शुक्लजी ने कभी प्रच्छन्न रूप में तो कभी खुले रूप में साहित्य में कल्पना को महत्त्वपूर्ण माना है। अपनी समीक्षा में जब वे किसी कवि के वैविध्यपूर्ण जीवन-बोध या जीवन के विविधपक्षीय साक्षात्कार की प्रशंसा करते हैं, तो वह प्रकारान्तर से कवि की सर्जनात्मक कल्पना के विस्तार की प्रशंसा होती है। तुलसीदास को बड़ा कवि मानने के पक्ष में उनका एक तर्क यह रहा है कि तुलसीदास की "वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है।"[2] जिसे शुक्लजी ने तुलसीदास की वाणी की पहुँच कहा है, वह वस्तुतः उनकी कल्पना की साक्षात्कार-क्षमता का ही दूसरा नाम है। सूरदास को भी उन्होंने इस बात का श्रेय दिया है कि "जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया है, उसका कोई कोना अछूता न छूटा।"[3] इस प्रसंग में 'वाणी का संचरण' कल्पना का ही संचरण है। यद्यपि शुक्लजी ने 'कल्पना का प्रसार' जैसी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी रचना के क्षेत्र का फैलाव जब वे बतलाते हैं तो उनका आशय यही होता है। केशव के काव्य पर उन्होंने जो प्रहार किया है उसमें उनकी कल्पना का क्षेत्र संकुचित होने का आक्षेप भी सम्मिलित है "जीवन के नाना और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि न थी।"[4]

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४१
२ वही, पृ० १३४
३ वही, पृ० १६४
४ वही, पृ० २०२

कल्पना के प्रसार को शुक्लजी ने जो महत्त्व दिया है, उसके पीछे उनकी यह मान्यता रही है कि साहित्य की सार्थकता जीवन के प्रतिनिधान में निहित है। उनकी यह विचार दृष्टि उनकी साहित्याशंसा में अनेक रूपों में नर्तित चेतना में बनी है। उसकी एक परिणति कल्पना के प्रसार को महत्त्व देने में हुई है, दूसरी मार्मिक प्रसंगों के चयन में, तीसरी परिणति परिस्थितियों के सांगोपांग उपस्थापन में हुई है और चौथी प्रबंधकाव्य को मुक्तक काव्य पर वरीयता देने में। मथुरा से गोकुल की निकटता उन्हें गोपियों की विरह भावना की स्वाभाविकता के विरुद्ध इसीलिए प्रतीत हुई कि वे मुक्तक काव्य में भी प्रबंधकाव्य के समान जीवन की परिस्थितियों के प्रति जागरूकता की अपेक्षा करते थे। प्रबंधकाव्य में कल्पना के विस्तार की उनकी आकांक्षा तुष्ट होती थी। इसीलिए उन्होंने लिखा 'यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।'[1] साहित्य में प्रतिनिधान को महत्त्व देने के कारण ही उन्होंने साहित्य सृष्टि की स्वायत्तता का कभी स्वीकार नहीं किया और नूतन सृष्टि के निर्माण वाली कल्पना का विरोध वे अंत तक करते रहे।

फिर भी शुक्लजी ने अपनी साहित्याशंसा में उद्भावना का मूल्य कम नहीं किया है। तुलसीदास की तुलना में उन्हें सूरदास में यह वैशिष्ट्य दिखलाई दिया है कि नवीन प्रसंगों की उद्भावना सूर के काव्य की अपनी विशेषता है जो तुलसीदास के काव्य में नहीं मिलती। उन्होंने इस विषय में लिखा है 'सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करने वाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते।'[2] तुलसीदास की सर्जनात्मक प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की रही है। उसे शुक्लजी ने इन शब्दों में आंका है "उसकी कल्पना वस्तुस्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में प्रवृत्त होती थी, नई वस्तुस्थिति खड़ी करने नहीं जाती थी।"[3] इन टिप्पणियों में यह देखा जा सकता है कि शुक्लजी ने नूतन प्रसंगों की उद्भावना और वस्तुस्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में अंतर किया है, लेकिन दूसरी स्थिति में भी कवि की कल्पना के योगदान को रेखांकित किया है। इस प्रकार उन्होंने सर्जन से कल्पना के सम्बन्ध को मान्यता दी है। कल्पना की यह भूमिका नूतन निर्माण से इस अर्थ में अलग है कि 'नूतन निर्माण' की बात उन्होंने सदा जीवन विच्छिन्न और प्रतिनिधान निरपेक्ष रूप में ही ली है। इसीलिए कल्पना की उद्भावना और उद्घाटना को उन्होंने कल्पना की उड़ान से सदा अलग रखा है।

प्रतिनिधानमूलक साहित्य दृष्टि जीवन से सरोकार रखने के कारण लोकचिंता और लोकमंगल की ओर उन्मुख हो, यह बहुत स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य का

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३९
२ वही, पृ० १६४
३ वही, पृ० १४०

इतिहास में यह बात दो रूपों में दिखलाई देती है (१) लोकमानस में भक्ति विरोधी उक्तियों की प्रतिक्रिया के रूप में और (२) लोकमंगल के विधान के रूप में। पहली बात कबीर और तुलसी सम्बन्धी समीक्षाओं में देखने को मिलती है जबकि दूसरी बात तुलसीदास सम्बन्धी समीक्षा में ही उपलब्ध है। शुक्लजी का विचार है कि सिद्धों और नाथों का अनुसरण करने वाले कबीर की अटपटी और गूढ़ उक्तियों के वैचित्र्य से लोकमानस आतंकित था[1] और तुलसीदास ने उसे इस आतंक से मुक्त करने का प्रयत्न किया।[2]

शुक्लजी ने निर्गुणपंथियों पर लोकधर्म की उपेक्षा का जो आरोप लगाया है[3] उसे आज बहुत कम लोग मानेंगे फिर भी उनकी इस टिप्पणी में जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह कि उन्होंने निर्गुणपंथियों और तुलसीदास के काव्य को लोकमानस के सम्बन्ध से देखा है। उनकी रचनाओं के मूल्यांकन को इस सम्बन्ध की चेतना ने प्रभावित किया है लेकिन इस तथ्य की चर्चा करते समय यह भी याद रखना होगा कि 'इतिहास' में इतने सारे लेखकों में से बहुत कम के प्रसंग में शुक्लजी ने लोक की बात उठाई है। लगता है कि शुक्लजी लोकसम्पृक्ति को काव्योत्कर्ष का अंतरंग अंग नहीं मानते थे। इतना ही नहीं, लोक चेतना ने जहाँ नैतिक बोध के विरुद्ध जाकर काव्य में उपदेशात्मकता का रूप ले लिया है वहाँ शुक्लजी ने अपने प्रिय से प्रिय कवि को भी क्षमा नहीं किया है। उपदेशात्मकता को लक्ष्य कर उन्होंने तुलसीदास के विषय में लिखा है "रामचरितमानस में तुलसीदास केवल कवि के रूप में ही नहीं, उपदेशक के रूप में भी सामने आते हैं। उपदेश उन्होंने किसी न किसी पात्र के मुख से कराए हैं, इससे काव्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे उपदेश पात्र के स्वभाव चित्रण के साधन रूप हैं। पर बात ऐसी नहीं है। वे उपदेश के लिए ही हैं।'[4]

जिन कवियों के विषय में शुक्लजी ने अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की है, उनमें उन्हें प्रायः काव्यगुण का अभाव दिखलाई दिया है। जीवन बोध का प्रश्न उन्होंने बहुत कम कवियों के प्रसंग में उठाया है। प्रखर जीवन बोध का लोकचेता कवि शुक्लजी की दृष्टि में चढ़ गया है लेकिन इस गुण से रहित कवियों पर वे खीझे नहीं हैं।

यदि यह देखना हो कि किस प्रकार की काव्य रचना ने शुक्लजी के मन में असंतोष पैदा किया है तो 'इतिहास' में इस प्रकार की टिप्पणियाँ उस काव्य के सम्बन्ध में मिलेंगी जिसमें या तो भावुकता की कमी है या जिसकी भावभूमि संकुचित है या जहाँ काव्य के शिल्प सौंदर्य को इस सीमा तक महत्त्व दिया गया है कि वह सजावटी

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० [illegible] २४ और ७९
२ वही, पृ० १३५ से १३७
३ वही, पृ० १३५
४ वही, पृ० १४०

वस्तु बन गया है या जहाँ कल्पना शक्ति क्षीण रही है। पहले प्रकार का असंतोष उन्होंने केशव के सम्बन्ध में यह कहते हुए व्यक्त किया है "केशव को कविहृदय नहीं मिला है।"[1] दूसरे प्रकार की शिकायत उन्होंने 'छायावाद' के सम्बन्ध में की है। छायावाद की संकुचित भावभूमि की शिकायत करते हुए उन्होंने लिखा "उसका प्रधान लक्ष्य काव्य शैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं। अर्थभूमि या वस्तुभूमि का तो उसके भीतर बहुत संकोच हो गया। समन्वित विशाल भावनाओं को लेकर चलने की ओर ध्यान न रहा।[2] तीसरे प्रकार की अप्रसन्नता भी उन्होंने छायावाद के प्रति प्रकट की है और उसके साथ अभिव्यंजनावाद को भी जोड़ दिया है 'इन दोनों वादों के अनुसार काव्य का लक्ष्य उसी प्रकार सौन्दर्य की सृष्टि या योजना हो गया जिस प्रकार बेलबूटे या नक्काशी का।[3] छायावाद के सम्बन्ध में किए गए इस आक्षेप के साथ अभिव्यंजनावाद को जोड़ देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी की यह नाराजगी मुख्यतः उस काव्य दर्शन के प्रति है जो उन्हें छायावाद से जुड़ा प्रतीत हुआ है। इस विचार की पुष्टि इस बात से भी होती है कि शुक्लजी ने और स्थानों पर छायावादी काव्य शिल्प की रमणीयता की प्रशंसा की है और उसे द्विवेदी युगीन कविता की नीरसता के विरुद्ध काव्य शिल्प के उत्कर्ष की आकांक्षा से प्रेरित बतलाया कहा है "द्वितीय उत्थान में काव्य की नूतन परम्परा का अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदीजी के प्रभाव से एक ओर उसमें भाषा की सफाई आई दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर बाह्यार्थ-निरूपक हो गया—अतः खड़ीबोली की कविता में पदलालित्य, कल्पना की उड़ान, भाव की वेगवती व्यंजना वेदना की विवृति, शब्द प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखने की आकांक्षा बढ़ती गई। कुछ अंग्रेजी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत मुक्तक (लिरिक्स) बँगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तुविन्यास और अनूठे दीपिका के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नए ढंग की रचनाएँ संवत १९७० ७१ से ही निकलने लगी थी।"[4] काव्य के सम्बन्ध में इस विचार दृष्टि के फलस्वरूप शुक्लजी ने द्विवेदी-कालीन कविता के विषय में जो असंतोष प्रकट किया है उसका सम्बन्ध असंतोष के उपर्युक्त चार प्रकारों में से अंतिम से है "द्वितीय उत्थान की कविता में काव्य का स्वरूप खड़ा करने वाली दोनों बातों की कमी दिखलाई पड़ती थी—कल्पना का रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का वेग भी बहुत कम व्यंजित होता था।[5]"

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २०५
२ वही, पृ० ६१७।
३ वही, पृ० ६२३
४ वही, पृ० ६१७-१८
५ वही, पृ० ६१७

भाव और कल्पना दोनों को समन्वित रूप मे भी शुक्लजी ने कुछ कवियो की समीक्षा के लिए काम मे लिया है। सूरदास की कविता मे वाग्वैदग्ध्य की उन्होंने जो खोज की है उसमे वाणी की विदग्धता उक्ति चमत्कार से सर्वथा भिन्न प्रकार की वस्तु रही है। इसका कारण यही है कि वाणी की विदग्धता मे भाव की भगिमा महत्त्वपूर्ण रहती है जिसे कवि की कल्पना वक्र गति प्रदान करती है। पद्माकर के प्रसग मे शुक्लजी ने काव्य मे भावाभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे कल्पना का महत्त्व स्पष्ट शब्दो मे प्रतिपादित किया है "इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हावभावपूर्ण मूर्तिविधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति मे मग्न हो जाता है। ऐसी सजीव मूर्तिविधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड और किसी कवि मे नही पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नही कर सकती, या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फडफडाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का सयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप मे विकसित हो सकती है।"[१]

पद्माकर के काव्य के सम्बन्ध मे शुक्लजी की यह टिप्पणी काव्य के सम्बन्ध मे उनके तटस्थ अभिमत की सूचक है। हिन्दी साहित्य का इतिहास मे उन्होंने बडे पैमाने पर जो साहित्य समीक्षा की है उसमे विभिन्न रचनाकारो के सदर्भ मे भाषा, शिल्प, भावुकता कल्पनाशीलता जीवनोन्मुखता आदि का विचार उन्होंने किया है लेकिन सर्वत्र यह ध्यान रखा है कि वे जिस वस्तु की समीक्षा कर रहे है वह साहित्य है जीवन नही। साहित्य को जीवन सदर्भित मानकर उसकी समीक्षा करना एक बात है और साहित्य के बहाने जीवन की ही समीक्षा करना दूसरी। आज के अनेक समीक्षक इस विपर्यास से ग्रस्त है। वे साहित्य के नाम पर जीवन सदर्भों मे ही उलझे रह जाते हैं। शुक्लजी ने इतने बडे पैमाने पर साहित्य समीक्षा करते हुए भी अपनी साहित्यशसा को इस विपर्यास से मुक्त रखा है। हिन्दी समीक्षा को यदि भटकाव से मुक्त रहना है तो उसे शुक्लजी के बनाये रास्ते पर चलना होगा।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २९५

अध्याय १

समीक्षा-पथ

हिन्दी समीक्षा के आधुनिक रूप का सूत्रपात गद्य साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति भारतेन्दु-काल में हो गया था जिसका विकास द्विवेदी युग में देखा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक आलोचना में गाम्भीर्य और दृढ़ता आने का प्रश्न है, इसका श्रेय मुख्य रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को मिलना चाहिए। शुक्ल पूर्व हिन्दी समीक्षा का स्वरूप बहुत सीमा तक अनिश्चित था। उसमें मौलिक चिंतन, अध्ययन की व्यापकता और अनुभूति की तीव्रता का अभाव सा था। शुक्लजी ने भारतीय काव्यशास्त्र को नवीन, मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की तथा संस्कृत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का गहन अध्ययन कर अनेक नवीन मान्यताओं की प्रस्थापना की जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक हिन्दी आलोचना के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुई।

शुक्लजी ने अपने व्यापक एवं गम्भीर अध्ययन, अपनी अनोखी सूझबूझ, तल स्पर्शी दृष्टि और मौलिक चिन्तन शक्ति से बल पर हिन्दी समीक्षा को एक ठोस धरातल प्रदान किया। समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक एवं विनियोगात्मक उपलब्धियों का प्रतिफल उनके समीक्षक व्यक्तित्व की पराकाष्ठा तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत उनकी देन इस दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि उन्होंने समीक्षा का जो राजपथ निर्मित किया उस पर चलने की सुविधा से प्रेरित होकर हिन्दी में समीक्षकों की एक बड़ी संख्या साहित्य यात्रा के लिए निकल पड़ी। शुक्लजी हिन्दी-समीक्षा के एक ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं जिनसे प्रकाश लेकर अनेक महारथियों ने अपनी समीक्षा यात्राओं की दिशा निर्धारित की है।

व्यापक परिप्रेक्ष्य—शुक्ल समीक्षा की यह विशेषता रही है कि उसमें साहित्य के अंग प्रत्यंग का अनुशीलन व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया गया है। बँधी बँधाई परम्परा की कूपमण्डूकता शुक्लजी को स्वीकार्य नहीं थी। शुक्लजी का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उन्होंने संस्कृत की अत्यन्त सम्पन्न काव्यशास्त्रीय परम्परा के साथ ही पाश्चात्य समीक्षा की उर्वर परम्परा से प्रकाश प्राप्त किया और संस्कृत के काव्य वैभव को दृष्टिपथ में रखने के साथ ही साथ आंग्ल साहित्य की उच्चकोटि की कृतियों को अपने ध्यान में रखकर समीक्षा मान तथा साहित्यिक आदर्श निर्धारित किये।

पाश्चात्य समीक्षकों में आई० ए० रिचर्ड्स, एबर क्राम्बे प्रभति विद्वानों के विचारों से शुक्लजी के समीक्षा सिद्धान्त बहुत निकट हैं। रिचर्ड्स महोदय ने जिस प्रकार साहित्य और जीवन में अविच्छेद्य सम्बन्ध[1] स्वीकार कर मूल्यवादी दृष्टिकोण को अपनाया है, शुक्लजी ने भी ऐसी ही बात अनेक स्थानों पर कही है—"कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मानव हृदय का सामञ्जस्य स्थापन है।[2] शुक्लजी ने अपनी समीक्षा में निगमनात्मक (Inductive) पद्धति अपनाई है जिसमें आलोचना के मान, आलोच्य कृति के आधार पर प्रस्थापित किये जाते हैं। रिचर्ड्स के विचार भी देखिए कितना अद्भुत साम्य रखते हैं—"When ever we attempt to Judge poetry from outside by technical details we are putting means before ends and—such is our ignorance of cause and effect in poetry we shall be lucky if we donot make even worse blunders"[3]

एबर क्राम्बे और शुक्लजी के प्रेषणीयता सम्बन्धी विचारों में अनोखा सादृश्य अवलोकनीय है। शुक्लजी ने जहाँ—"एक सहृदय की अनुभूति को दूसरे सहृदय तक पहुँचाना" काव्य या कला का लक्ष्य माना है[4] वहाँ एबर क्राम्बे ने भी काव्य के लिए प्रेषणीयता को अनिवार्य तत्व माना है, जिसके बिना साहित्य साहित्य नहीं होता।[5] केवल सादृश्य की दृष्टि से ही नहीं, प्रतिक्रिया रूप में भी शुक्लजी की विचारधारा का सम्बन्ध पाश्चात्य विचारकों से दिखलाई देता है। क्रोचे और ब्रेडले के मतों से वे कभी पूर्णतः सहमत नहीं हुए। ब्रेडले के कलावाद को लेकर शुक्लजी द्वारा लिखा हुआ यह अंश इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—"उपर्युक्त वाद वेलजूटो और नवकाशियों के सम्बन्ध में

---

1 There is no such gulf between poetry and life as overliterary persons sometimes suppose There is no gap between our every day emotional life & the material of poetry The verbal expression of this life at its finest is forced to use tachnique of poetry that is the only essential difference —I A Richards Practical Criticism p 319

2 रसमीमांसा पृ० २६

3 Practical Criticism p 17

4 काव्य में रहस्यवाद—लेखक आचार्य शुक्ल, पृ० १०६

5 Whateverelse literature may be communiaction it must be No communication no literature We must always remember that language is only the medium of the art The art consists in the communication establish between author and reader (or of course hearer) —Principles of Literary Criticism p 24

तो बिलकुल ठीक घटना है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है। उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा, उसके निकट काव्य का सहृदयता, भावुकता और मार्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं।"[1] "   मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र से जितना जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा है।'[2]

इधर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को 'वितण्डावाद'[3] कहकर शुक्लजी ने 'सुन्दर' शब्द को 'रमणीय' शब्द से हीनतर बताया है और कहा है— 'यह 'सुन्दर' शब्द काव्यानुभूति के सौन्दर्य को संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण 'सौन्दर्यानुभूति' के रूप में नहीं होता। क्रोचे या अपने यहाँ के—चमत्कारवादी और वक्रोक्तिवादी के अनुसार, यदि हम अभिव्यंजना या कल्पना की उड़ान को ही सब कुछ मानें तो भी 'सुन्दर' शब्द बिना खींचतान के सर्वत्र काम नहीं देता।[4]

वस्तुतः शुक्लजी को पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित हो रहे नये नये वादों से चिढ़-सी थी और जब उन्होंने देखा कि उन्हीं वादों का अंधानुकरण हिन्दी साहित्य में भी बंगला के माध्यम से जोर पकड़ रहा है तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—"आजकल पाश्चात्य वादवृक्षों के बहुत से पत्ते कुछ हरे सूखे हुए कुछ सूखकर गिरे पाये हुए—यहाँ पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित किये जाने लगे हैं जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके ये पत्ते हैं।[5]

शुक्लजी की समीक्षा में इस व्यापक पृष्ठभूमि का प्रभाव अनेक रूपों में देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उनके समीक्षा सिद्धान्तों के अन्तर्गत भारतीय रस सिद्धान्त के साथ पाश्चात्य कल्पना सिद्धान्त का समन्वय उल्लेखनीय है, क्योंकि इस समन्वय के परिणामस्वरूप शुक्लजी ने भारतीय काव्य चिन्तन के मेरुदण्ड को नूतन गति प्रदान की है।

रसोद्रेक में कल्पना का योग—शुक्लजी ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रसोद्रेक में कल्पना तत्त्व के महत्त्व को स्वीकार किया। संस्कृत आचार्यों ने रस के अवयवों का उल्लेख करते हुए भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का उल्लेख तो किया, किन्तु उसके मूल में अन्तर्हित रसास्वाद की गत्यात्मक (Dynamic) प्रक्रिया को वे स्पष्ट नहीं कर सके। शुक्लजी ने पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों से गृहीत कल्पना शक्ति के

---

१ चिन्तामणि—भाग दूसरा, पृ० १७०
२ वही, पृ० १८०
३ वही, पृ० १७९
४ वही, पृ० १७८
५ वही, पृ० १६५

प्रकाश म उस प्रक्रिया को अधिक विशद रू म व्याख्यायित किया। वस्तुत कल्पना ही वह आधारभूमि है जो रस के विभिन्न अवयवा का एव गत्यात्मक प्रक्रिया म अतभाव करती है। शुक्लजी ने रस विश्लेषण म कल्पना को उचित भाव देते हुए कहा—"सारा रूपविधान कल्पना ही करती है। अत अनुभाव कहे जाने वाले व्यापारा और चेष्टाओं द्वारा आश्रय को जो रूप दिया जाता है, वह भी कल्पना ही (के) द्वारा। पर भावो की द्योतक शारीरिक व्यापार या चेष्टाएँ परिमित होती है, वे रूढ या बँधी हुई होती है। उनमे नयेपन की गुजाइश नही, पर आश्रय के वचनो की अनेकरूपता की कोई सीमा नही। इन वचनो की भी कवि द्वारा कल्पना ही की जाती है।' [१]

शुक्लजी ने कवि और भावक दोना के लिए कल्पना शक्ति को अनिवाय माना। एक सजन प्रक्रिया म कल्पना का सहारा लेता है तो दूसरा भावन प्रक्रिया म। कल्पना को इतना महत्त्व देन पर भी शुक्लजी पाश्चात्य समीक्षको की भाति कल्पित रूपविधान को ही काव्य का मूल लक्षण स्वीकार नही करते, वरन् वे तो उसी कल्पना को साधक मानते है 'जो श्रोता या पाठक के मन म कोई भाव जगाने मे समथ हो।"[२] शुक्लजी की यह विचारणा कि रसोद्रेक म कवि की विधायक कल्पना शक्ति तो काय करती ही है साथ ही रसास्वादन के लिए पाठक की ग्राहक कल्पना शक्ति का भी समृद्ध होना परमावश्यक है, उनके व्यापक चिन्तन का ही परिणाम कही जा सकती है। शुक्ल जी ने ग्राहक कल्पना का महत्व प्रतिपादित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके अभाव मे काव्यास्वाद की सम्भावना समाप्त हो जाती है—'जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है किसी कविता या सरस उक्ति को पढा सुनाकर उनके हृदय म मार्मिकता होने हुए भी वैसी अनुभूति नही होती। बात यह है कि उनके अन्त करण म चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्तिविधान नही होता, जो भावा को परिचालित कर दता है।"[३]

सौन्दय विषयक विचारणा—इसी प्रकार उनकी सौन्दय विषयक विचारणा भी व्यापक परिप्रेक्ष्य को लेकर चली है। इन्होने वस्तुआ के बाह्य रगरूप को ही सौन्दय की श्रेणी मे नही रखा वरन मनोवृत्ति और कम सौन्दय को भी सौन्दय के क्षेत्र मे समाहित किया और स्थापना दी कि—'कवि की दृष्टि तो सौन्दय की ओर जाती है चाहे वह जहा हो—वस्तुओ के रूपरग म अथवा मनुष्यो के मन, वचन और कम म।'[४] उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"कविता केवल वस्तुओ के ही रगरूप मे सौन्दय की

---

१ रस मीमासा पृ० २७२
२ वही, पृ० ३०३
३ चिन्तामणि—भाग पहला, पृ० १६१
४ रस मीमासा, पृ० ३३

छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणीय के मुखमण्डल आदि का सौंदर्य मन में लाती है, उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौन्दर्य भी मन में जमाती है।''[1]

शुक्लजी ने सौंदर्य के भीतरी और बाहरी भेदों को निराधार बताकर सौंदर्य के क्षेत्र की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की जिसे निःसंदेह उनके व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक कहा जा सकता है। आचार्य ने सुंदर वस्तु से पृथक सौंदर्य की सत्ता स्वीकार नहीं कि और इनके अनुसार तो यूरोपीय कला समीक्षकों का यह कहना कि—'सौंदर्य बाहर की वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु है—भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है।'[2] सच्चे कवियों की सौंदर्य भावना को लेकर लिखा गया यह अंश इस दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है—'सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूंढा करते। वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुंह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में भी कभी कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुंच सकती।"[3]

काव्य विषय की व्यापकता—काव्य के वर्ण्य विषय को लेकर शुक्लजी ने अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है और इस व्यापक दृष्टि की पृष्ठभूमि में उनका व्यापक अध्ययन रहा है। अंग्रेजी और संस्कृत की श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से प्रभावित होकर उन्होंने सम्पूर्ण दृश्य जगत और उसके नाना तत्वों को काव्य विषय के रूप में स्वीकार किया है चाहे वह मनुष्य जीवन से सम्बंधित हो, चाहे मनुष्येतर जगत से। समस्त चराचर को काव्य विषय स्वीकार कर पंडितजी ने वर्ण्य विषय संकोच को दूर किया है। प्रकृति को मात्र उद्दीपन मानना शुक्लजी को स्वीकार्य नहीं, इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है और संस्कार सापेक्ष है।"[4]

आदिकवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, वर्ड्सवर्थ और शेली प्रभृति कवियों के सुंदर और मार्मिक प्रकृति चित्रण से शुक्लजी अत्यधिक प्रभावित हुए। इसी के परिणामस्वरूप उन्होंने प्रकृति को आलम्बन रूप में स्वीकार कर साहित्यकारों को चराचर जगत के सौंदर्य की ओर प्रेरित किया। आचार्य शुक्लजी ने सम्पूर्ण विश्व को एक

१ चिंतामणि भाग पहला, पृ० १६६
२ रस मीमांसा, पृ० २९
३ वही, पृ० ५३-५४
४ वही, पृ० १११

काव्य की संज्ञा देते हुए कहा—' इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न हुआ, उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा समझना चाहिए।" ' अपने काव्य का प्रयोजन, विषय विस्तार को ध्यान में रखते हुए बाह्य प्रकृति के साथ अंत: प्रकृति का सामंजस्य और भावात्मक सत्ता के प्रसार, को ही माना है। [२]

शुक्लजी के इस व्यापक परिप्रेक्ष्य को उनकी सैद्धांतिक समीक्षा में ही नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक समीक्षा में भी देखा जा सकता है। इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन कर अपनी व्यावहारिक समीक्षा में मौलिक चिंतन के आधार पर अनेक मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। शुक्लजी के इसी व्यापक दृष्टिकोण को उनके साहित्यिक ऐतिहासिक संदर्भयुक्त विवेचना में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शुक्लजी ने साहित्य के मूल्यांकन के पूर्व साहित्यकार के परिवेश और युगीन परम्परा को विशेष महत्त्व दिया है। रचनाकार और उसकी रचना में शुक्लजी अटूट सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इसलिए वे रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन, उसके मानसिक धरातल तथा संस्कारों को पूर्व अध्ययेय माना है। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी उनकी विस्तृत भूमिकाओं में इस विशेषता को देखा जा सकता है। काव्य सिद्धांतों के समान ही काव्य समीक्षा में भी शुक्लजी ने स्थूल रसांगों के परिगणन के स्थान पर कल्पना संचरण को बल दिया। स्थूल रसांगों की लीक को छोड़ने वाले सूर के कवि की पहुँच का उल्लेख करते हुए शुक्लजी *लिखते हैं—"उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा* उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से बँधकर चलने वाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलम्भ शृंगार को ही लें, अथवा इस भ्रमरगीत को ही देखें, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को कवियों की पहुँच कहता हूँ। [३]

इधर विषय विस्तार के अभाव को देखकर शुक्लजी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आलोचना की है क्योंकि उनके साहित्य में प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की उपेक्षा सी दृष्टिगत होती है। वे लिखते हैं—"मानवी वृत्तियों ही के मर्मस्पर्शी अंशों को छाँटकर उन्होंने मनोविकारों को तीव्र और परिष्कृत करने का विचार किया, दूसरी प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की मर्मस्पर्शिनी शक्ति पर बहुत ही कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा उसे उसी के उठाए हुए घेरे में रखकर देखा।' [४]

---

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८६

२ वही, पृ० १८५

३ भ्रमरगीतसार (संपा० रामचन्द्र शुक्ल), पृ० २

४ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १९४

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी के चिन्तन का व्यापक परिप्रेक्ष्य उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा तक ही सीमित नहीं रहा प्रत्युत व्यावहारिक समीक्षा में भी पूर्ण रूप से उभर कर आया है।

मनोव्यापारात्मक दृष्टि—आलोचना मान की प्रस्थापना में मनोव्यापारात्मक दृष्टि का प्रयोग शुक्ल समीक्षा की अपनी [विशेषता रही है। इन्होंने काव्य को हृदय का व्यापार माना है और इसी हृदय-तत्त्व को लेकर काव्य की परिभाषा, उसके प्रयोजन, लक्षण, रस और साधारणीकरण आदि विषयों पर विचार किया है। शुक्ल पूर्व हिन्दी समीक्षा में इस मनोव्यापारात्मक दृष्टि का अभाव सा था। वस्तुतः शुक्लजी की यह अपनी मौलिक दृष्टि है जिस पर कुछ सीमा तक पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का प्रभाव देखा जा सकता है।

काव्य परिभाषा—शुक्लजी ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य परिभाषा में स्थूल काव्यांगों को महत्त्व न देकर मनोव्यापार को महत्त्व दिया है। शुक्ल पूर्व संस्कृत आचार्यों ने काव्य विषयक जो अनेक परिभाषाएँ दी थीं, उनमें शब्दार्थ, शब्द या वाक्य को ही काव्य कहा गया था। यथा—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[१]

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि[२]

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्[३]

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्[४]

उपर्युक्त काव्य विषयक परिभाषाएँ काव्य के बाह्य पक्ष की ओर संकेत करती हैं। शुक्लजी ने काव्य को मनःस्थिति पर केन्द्रित किया तथा काव्य का सम्बन्ध हृदय की मुक्तावस्था से जोड़ा—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।'[५]

काव्य-लक्षण—काव्य लक्षण पर विचार करते हुए शुक्लजी ने 'रमणीयता' शब्द को अधिक महत्ता दी है। वस्तुतः कविता हृदय को रमाने का कार्य करती है जिसका सम्बन्ध भावनाओं और अनुभूतियों से है। रमणीय तत्त्व का सम्बन्ध भी हृदय-व्यापार अथवा मनोव्यापार से है इसलिए यहाँ भी शुक्लजी की वही मनोव्यापारात्मक

१ भामह, काव्यालंकार

२ मम्मट, काव्यप्रकाश

३ जगन्नाथ, रसगंगाधर

४ विश्वनाथ, साहित्यदर्पण

५ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४१

गुप्तजी ने यहाँ मनोविज्ञान के सहारे अपने तथ्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार जब प्रिय न अधिक दूर ही रहा है और न ही मार्ग में ऐसी-वैसी कोई बाधा ही है जो मामला गड़बड़ा दे, फिर ऐसा निरर्थक प्रलाप कोई युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार गुप्तजी ने एक और मनोवैज्ञानिक सत्य प्रस्तुत करते हुए जायसी की आलोचना की है जिसमें कवियों द्वारा नायिकाओं के ही विशेष रूप से विरह-जीवन के चित्रण किये जाने का कारण बताया गया है।—"ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन दिन क्षीण होने, विरह ताप में भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के वर्णन में कवियों का जी उतना नहीं   ता। बात यह है कि स्त्रियों की श्रृंगार चेष्टा का वर्णन करने में पुरुषों को जो   , वह पुरुषों के दशा वर्णन करने में नहीं।"४

, भाग   ० २२९

३

दृष्टि का परिचय मिलता है। शुक्लजी ने काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए कहा है कि काव्य का लक्ष्य तो एक सहृदय की अनुभूति को दूसरे सहृदय तक पहुँचा देना ही है। शुक्लजी परम्परित काव्य प्रयोजनों को अधिक महत्त्व नहीं देते, जैसे यशअर्थ, व्यवहार, शिवेतरक्षतये आदि,[1] वे तो काव्य का चरम लक्ष्य सवभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना मानते हुए कहते हैं—'कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।'[2] हृदय को लोकसामान्य भूमि पर ले जाना मनोव्यापारात्मक संकेत है जहाँ सहृदय स्व पर की भावना से मुक्त होकर काव्य का आस्वादन करता है।

रस और साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यताएँ—जिस प्रकार शुक्लजी ने स्थूल काव्यांगों को महत्त्व नहीं दिया, उसी प्रकार उन्होंने स्थूल रसांगों को भी महत्ता न देकर उसके मानसिक पक्ष का उदघाटन किया है। शुक्लजी विभाव, अनुभाव और संचारियों की गिनती गिना देने को रसनिष्पत्ति संज्ञा से अभिहित करना युक्तिसंगत नहीं मानते। इन्होंने रस का मनोवैज्ञानिक धरातल पर अध्ययन किया और सवप्रथम हृदय और मस्तिष्क की भूमिकाओं के सम्बन्ध से रस पर विचार कर निर्णय दिया कि हृदयवाद ही रसवाद है और हृदय की मुक्तावस्था ही रसदशा है।[4] भाव ही शुक्लजी का यह कहना कि लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है,[5] उनके मनोव्यापारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है।

'साधारणीकरण' की परिभाषा देते हुए शुक्लजी ने साधारणीकरण की प्रक्रिया और सहृदय पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर ही विशेष रूप से विचार किया है। यद्यपि शुक्ल पूर्व आचार्यों ने रस के विभिन्न अवयवों के साधारणीकृत होने की बात कही थी किन्तु शुक्लजी ने ही सवप्रथम मनोविज्ञान के प्रकाश में आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकृत होने की बात कही। 'साधारणीकरण की परिभाषा देते हुए शुक्लजी ने कहा है कि—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन

---

१ मम्मट, काव्यप्रकाश—

'काव्यम् यशसे अथकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्यपरिनिर्वृतये कान्तासम्मित तयोपदेश युजे।"

२ चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४६

३ अभिभाषण, पृ० ८३

४ रस मीमांसा (प्रथम संस्करण), पृ० ५

५ वही, पृ० २६६

होती है, वैसे ही सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है।"[1] × × × × × इससे सिद्ध हुआ है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।'[2]

शुक्लजी की इसी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि को उनकी व्यावहारिक समीक्षा में भी देखा जा सकता है। वे जब किसी कवि अथवा साहित्यकार की आलोचना करते हैं, उस समय प्रत्येक तथ्य की गहराई तक पहुँचने की उनकी प्रवृत्ति रहती है। किसी घटना अथवा प्रसंग विशेष से चित्त पर कैसा प्रभाव पड़ता है? सहृदयों की संवेदनाओं को वह कितना झकझोर देता है? इन सभी बातों पर शुक्लजी ने विशेष रूप से चिन्तन किया है। सूर के वियोग वर्णन सम्बन्धी आलोचना में शुक्लजी की इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।—"परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थी। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे।'[3]

शुक्लजी ने यहाँ मनोविज्ञान के सहारे अपने तथ्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार जब प्रिय से अधिक दूरी ही नहीं है और न ही मार्ग में ऐसी वैसी कोई बाधा ही है जो मामला गड़बड़ा दे, फिर ऐसा निरर्थक प्रलाप कोई युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार शुक्लजी ने एक ओर मनोवैज्ञानिक सत्य प्रस्तुत करते हुए जायसी की आलोचना की है जिसमें कवियों द्वारा नायिकाओं के ही विशेष रूप से विरह-जीवन के चित्रण किये जाने का कारण बताया गया है।—"ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन दिन क्षीण होने, विरह ताप में भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के वर्णन में कवियों का जी उतना नहीं लगता। बात यह है कि स्त्रियों की शृंगार चेष्टा का वर्णन करने में पुरुषों को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों के दशा वर्णन करने में नहीं।'[4]

---

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२९

२ वही, पृ० २३०

३ त्रिवेणी, सम्पा० कृष्णानन्द, पृ० ७८

४ वही, पृ० २८-२९

शुक्लजी ने व्यावहारिक समीक्षा में इस बात पर विशेष बल दिया है कि साहित्य स्रष्टा को मार्मिक स्थलों की पहचान है या नहीं। इनकी यह धारणा कि मार्मिक स्थल ही श्रोता अथवा पाठक को अधिक प्रभावित कर सकते हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिणाम है। काव्य समीक्षा में शुक्लजी ने सदैव परिस्थिति सापेक्षता पर बल दिया है इसलिए यदि कहीं किसी कवि का परिस्थिति निरपेक्ष रूप से अतिरंजित वर्णन हुआ है तो वह शुक्लजी की आशंसा प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका है। शुक्लजी की दृष्टि में अतिरंजित और परिस्थिति निरपेक्ष कल्पना सदैव हेय रही है, शायद इसीलिए इन्होंने केशव, बिहारी आदि कवियों द्वारा वर्णित अतिरंजनाओं की खिल्ली स्थान-स्थान पर उड़ाई है, यहाँ तक कि सूर जैसे समर्थ कवि भी इसकी चपेट से नहीं बच सके। यद्यपि सूर द्वारा प्रयुक्त उपमा, उत्प्रेक्षाओं की प्रशंसा शुक्लजी ने की है, तथापि जब देखा कि अन्धे सूर भी व्यर्थ की उपमा टटोलने में लग गये हैं तो उनकी आलोचना बड़े व्यंग्यपूर्ण ढंग से की है—

"हरिकर राजत माखन रोटी बस इतनी ही सी तो बात है उस पर
मनो बारिज ससि बैर जानि जिय गह्यो सुधासुहि छोटी
मना बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी

'एक छोटी सी रोटी की हकीकत ही कितनी, उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझा लाकर रख दिया। उपमाएँ यदि न मिली तो हम 'शेष शारदा' पर फिरे उनकी इज्जत लेने पर उतारू।' [१]

परिस्थिति निरपेक्ष अतिरंजनाओं से शुक्लजी को चिढ़-सी है। बिहारी की अतिरंजनाओं को लेकर लिखा गया यह अंश इसका एक अच्छा उदाहरण है—"बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते ले जाते शीशी का गुलाब-जल सूख जाता है, उसके विरह ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, प्रत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया है। कहाँ यह सब मजाक, कहाँ विरह वेदना।[२] शुक्लजी को जहाँ अत्यंत स्वाभाविक और परिस्थिति सापेक्ष अतिरंजनाएँ मिली हैं, उनकी प्रशंसा शुक्लजी ने मुक्त कण्ठ से की है। गोस्वामी तुलसीदास की भावुकता को लेकर लिखा गया यह अंश इसी तथ्य की पुष्टि करता है— 'कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूर्ण

---

१ रस मीमांसा, पृ० १३०
२ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७३

उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है।"[1]

परिस्थिति-सापेक्षता को इतना महत्त्व देना भी शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है। शुक्लजी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि कौन-सी अतिरंजना हृदय को छू सकती है और कौन सी व्यंग्य मज़ाक की सीमा से आगे नहीं बढ़ सकती। यद्यपि जायसी के विरह-वर्णन में अनेक अतिरंजनाएँ आई हैं, किन्तु शुक्लजी उन्हें मज़ाक की हद तक पहुँची नहीं मानते—

'जायसी का विरह वर्णन कहीं-कहीं अत्यन्त अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मज़ाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है। उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं।'[2] इसी प्रकार राम द्वारा सेतुबन्ध जैसी आश्चर्यजनक घटना को सुनकर वशीभूत रावण के मुख से जो मवपवाहट पूर्ण उक्तियाँ कहलाई हैं—

बाँधे बन निधि ? नीरनिधि? जलधि ? सिन्धु ? बारीस ?
सत्य, तोयनिधि ?, कंपती ?, उदधि ?, पयोधि ? नदीस ?

शुक्लजी उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए हैं और उन्हें पूर्ण मनोवैज्ञानिक मानते हैं, क्योंकि यहाँ असम्भव कार्य एकाएक ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में उपयुक्त वचन ओठों पर आ जाना असंगत नहीं।[3]

(३) **लोकमंगल की भावना**—शुक्लजी के समीक्षा मानों में मनोव्यापारात्मक दृष्टि के साथ लोकमंगल की भावना की भूमिका रही है। वे 'कला कला के लिए' (Art for Art Sake) के समर्थक कभी नहीं रहे, उन्होंने कला को 'जीवन के लिए' (Art for Life Sake) ही स्वीकार किया है। रस तत्त्व, सौन्दर्य तत्त्व और मंगल तत्त्व को शुक्लजी ने एक-दूसरे से अविच्छेद्य रूप में देखा है। उनके अनुसार मंगलमूर्ति में सौन्दर्य तत्त्व अवश्य होगा और सौन्दर्य तत्त्व में रस तत्त्व की सत्ता अवश्यंभावी है। इस प्रकार इन तीनों तत्त्वों का एक मंगल-तत्त्व में ही समाहित कर शुक्लजी ने अपनी लोकमंगल भावना को व्यापक आधार दिया है। शुक्लजी ने काव्य को जिन दो भागों में बाँटा है, उसके मूल में भी लोकमंगल की भावना को देखा जा सकता है—

(१) आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले।
(२) आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले।[4]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९३ ९४
२ त्रिवेणी, पृ० ४०
३ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ११८-११९
४ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१४

शुक्लजी ने व्यावहारि
स्रष्टा को मार्मिक स्थलो की प॒
ही श्रोता अथवा पाठक को
परिणाम है। काव्य समीक्षा म
है इसलिए यदि कही किसी का
है तो वह शुक्लजी की आश
दृष्टि म अतिरंजित और परिि
इन्होने केशव, बिहारी आदि क
पर उडाई है यहा तक कि सूर '
सूर द्वारा प्रयुक्त उपमा, उत्प्रेक्ष
अ ये सूर भी व्यय की उपमा ट
ढग से की है—

'हरिकर राजत
मनो बारिज सं
मनो वराह भूध

' एक छोटी सी रोटी की हकीक
लाकर रख दिया। उपमाएँ यदि
लेने पर उतारू। '[१]

परिस्थिति निरपेक्ष अि
अतिरजनाओ को लेकर लिखा गय
की उन उक्तियो म जिनमे विरहिणी
जल सूख जाता है उसके विरह ताप
का रहना कठिन हो जाता है, कृशता
हाथ पीछे और सास छोडने के साथ
बडा तमाशा ही खडा किया है। कहा य॒
को जहा अत्यन्त स्वाभाविक और परिि
प्रशसा शुक्लजी ने मुक्त कण्ठ से की है। गा॒
लिखा गया यह अश इसी तथ्य की पुष्टि करता
कि वह प्रत्यक मानव स्थिति म अपन को डालकर ॒
इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढकर विस्तृत
जीवन स्थिति के इतन भेद और कहाँ दिखाइ पडते हैं ?

---

१ रस मीमासा, पृ० १३०
२ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७३

१।"१ अतत यहाँ तक कहा जा सकता है कि शुक्लजी लोकमगल की भावना को इतना
~ देने लगे थे कि यह उनका एक पूवग्रह बन गई।

की अपेक्षा भाव-पक्ष पर बल—शुक्ल समीक्षा की एक विशेषता यह
अपने समीक्षा सिद्धातो मे कहीं भी कला पक्ष को भाव-पक्ष की
नहीं की ग्गे उपेक्षणीय भी नही माना। शुक्लजी ने काव्य-
ि अधिक मान्य समझा, क्योकि यह भाव पक्ष
आत्मा मानता है। आचाय शुक्ल रस को
, जबकि कला पक्ष मे मस्तिष्क की भूमिका
ा की कम। केवल चमत्कार और उक्ति
है और 'कला कला के लिए' कहने वाले
की सार्थकता भी वे चमत्कार म
अलकार विषयक परिभाषा मे साफ
ौर वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का
होने वाली युक्ति ही अलकार है।"२
को उद्गान नही मानते, वरन इसका
उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित
ावनानी बना देता है।" शुक्लजी द्वारा
दिया जाना भी उनकी इस विशेषता का
म अधिक महत्व प्रदान करते है।
'असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता
है। कविता सुनना और तमाशा देखना
लेकर चलने वाली उक्ति को शुक्लजी
अभिहित करतेहैं। शुक्लजी ने काव्य का
है वरन उन्होने कविता का अतिम
करके [उनके साथ मनुष्य-हृदय का
ा और उनके झुकाव का द्योतक है।

काव्यों की इस भेदक रेखा में भी 'आनन्द की साधनावस्था' ही शुक्लजी को अभिप्रेत है क्योंकि प्रयत्न पक्ष में ही लोक मंगल सम्भव है, उपभोग पक्ष तो मात्र लोक-रंजनकारी सिद्ध हो सकता है। शुक्लजी ने मंगल विधान को ही धर्म की संज्ञा से अभिहित करते हुए उसे ही भगवान की आनन्द कला का विकास रूप माना है—'वह व्यवस्था या वृत्ति जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्म वृत्ति को हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र हो और चाहे प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर, भगवान की आनन्द कला का विकास माना है।"[१]

शुक्लजी ने लोकमंगल की भावना के प्रसार के लिए लोकधर्म को स्वीकार करना आवश्यक समझा है जिसके बिना व्यक्ति धर्म उच्छृंखल हो उठता है, जिसे जीवन में किसी भी प्रकार से श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। शुक्लजी ने कहा है—"जहाँ लोकधर्म और व्यक्तिधर्म का विरोध हो, वहाँ कर्ममार्गी गृहस्थों के लिए लोकधर्म का ही अवलम्बन श्रेष्ठ है।"[२]

व्यावहारिक समीक्षा में भी शुक्लजी ने लोकमंगल की भावना को ही अपना आलोचना निकष बनाया है। सूर और तुलसी की तुलनात्मक आलोचना जहाँ जहाँ मिलती है, वहीं इस तथ्य का भी उद्घाटन हो जाता है। सूर और जायसी शुक्लजी की दृष्टि में वह स्थान नहीं पा सके जो तुलसी ने पाया, क्योंकि सूर के आराध्य देव लोक-रंजनकारी रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण है, जायसी के काव्य नायक हैं लौकिक जगत के राजा रत्नसेन जो किसी भी प्रकार से तुलसी के आराध्य देव मंगल विधायक, मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कोटि में नहीं आ सकते। जो लोकहितकारी न हो, उससे शुक्लजी को अधिक लगाव नहीं, तभी तो सूर के कृष्ण के बारे में वे लिखते है—"कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामने हैं लोकशत्रु या लोकपीडक के रूप में नहीं। उसके कारण वैसा हाहाकार सुनाई नहीं पड़ता, उनका अत्याचार 'सभ्य अत्याचार' सा जान पड़ता है।"[३] तुलसी के राम में वे मंगलत्व को साकार हुआ देखते है, इसीलिए राम का पुल बाधना और रावण जैसे प्रचण्ड शत्रु को मार गिराना उनकी दृष्टि में वीर धर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न रूप में है।[४] 'मंगलाशा' में तुलसीदासजी के प्रति शुक्लजी की लेखनी से निस्सृत ये शब्द ध्यातव्य हैं— लोकमंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगल ज्योति जो धर्म के रूप में जगत की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है और उसकी रक्षा द्वारा सत् का—नित्यत्व का—बोध कराती

१ रस मीमांसा, पृ० ६०
२ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३६
३ त्रिवेणी, पृ० ७९-८०
४ वही, पृ० ३०

है।[1] अतः यहाँ तक कहा जा सकता है कि शुक्लजी लोकमंगल की भावना को इतना अधिक महत्त्व देने लगे थे कि वह उनका एक पूर्वग्रह बन गई।

कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष पर बल—शुक्ल समीक्षा की एक विशेषता यह भी रही है कि उन्होंने अपने समीक्षा सिद्धान्तों में कहीं भी कला पक्ष को भाव-पक्ष की अपेक्षा महत्ता प्रदान नहीं की और इसे उपेक्षणीय भी नहीं माना। शुक्लजी ने काव्य शास्त्रीय सम्प्रदायों में रस सम्प्रदाय को ही अधिक मान्य समझा, क्योंकि यह भाव पक्ष को लेकर चला है और रस को काव्य की आत्मा मानता है। आचार्य शुक्ल रस को हृदय का व्यापार मानते हैं मस्तिष्क का नहीं जबकि कला-पक्ष में मस्तिष्क की भूमिका अधिक रहती है हृदय की सूक्ष्म संवेदनाओं की कम। केवल चमत्कार और उक्ति वैचित्र्य को शुक्लजी ने काव्याभास की संज्ञा दी है और 'कला कला के लिए' कहने वाले वादों पर खुलकर आक्रमण किया है। अलंकारों की सार्थकता भी वे चमत्कार में नहीं, रमणीयता में मानते हैं। यह बात उनकी अलंकार विषयक परिभाषा में साफ दिखाई देती है—'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।'[2] इसी प्रकार शुक्लजी उक्ति वैचित्र्य को कथन की उड़ान नहीं मानते, वरन् इसका अभिप्राय तो कथन के उस अनूठे ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उससे विषय को मार्मिक और प्रभावशाली बना देता है।[3] शुक्लजी द्वारा काव्य में मार्मिक प्रसंगोद्भावनाओं को महत्त्व दिया जाना भी उनकी इस विशेषता का परिचायक है कि वे भाव पक्ष के उत्कर्ष को ही काव्य में अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। शुक्लजी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि केवल "असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है, केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है।"[4] केवल कला-पक्ष का लचर पतन वाली उक्ति को शुक्लजी 'काव्य' की संज्ञा न देकर 'सूक्ति' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। शुक्लजी ने काव्य का अंतिम लक्ष्य चमत्कार या मनोरंजन नहीं माना है वरन् उन्होंने कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन[5] माना है जो भाव पक्ष की ओर उनके झुकाव का द्योतक है।

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८३

२ वही, पृ० १६१

३ वही, पृ० १८१

४ चिंतामणि, भाग १, पृ० १७१

५ वही, पृ० १६२

शुक्लजी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में भी हृदय पक्ष प्रधान कवियों की प्रशंसा की है और चमत्कारवादियों की भर्त्सना। तुलसी, सूर और जायसी भाव पक्ष प्रधान कवि हैं, इसलिए उनकी प्रशंसा में शुक्लजी ने बहुत कुछ लिखा है। तुलसी की भावुकता को लेकर लिखा गया यह अंश इस बात का एक उदाहरण है "प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चलता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। इन स्थलों को गोस्वामीजी ने अच्छी तरह पहचाना है इनका उन्होंने विस्तृत और विशद वर्णन किया है।[1] लेकिन केशव जैसे अलंकारवादी और चमत्कारप्रिय कवियों की खिल्ली भी अनेक स्थानों पर उड़ाई गई है। केशव को हृदयहीन कहने का कारण भी यही है कि केशव ने जितना महत्त्व चमत्कार और पाण्डित्य को दिया, उतना अनुभूति और भावना को नहीं—"केशव की रामचन्द्रिका में पच्चीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कारों के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात न मिलेगी।'[2] शुक्लजी तो काव्य को मनोरंजन और चमत्कार-प्रदर्शन की भूमि से उठाकर हृदय की लोकसामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं जिसमें कला जीवन के लिए *उपयोगी सिद्ध हो सके। केवल अनोखी और विचित्र विचित्र सामग्री प्रस्तुत करने वाले* कवियों के लिए शुक्लजी ने कहा है—"यों ही सिर पच्ची करना—बिना किसी भाव में मग्न हुए कुछ-कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना, या तो बावलापन है या दिमागी कसरत सच्चे कवि की कल्पना नहीं।'[3]

स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता—शुक्लजी के आलोचक व्यक्तित्व की एक बड़ी विशेषता उनकी स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता थी। वे जिस विषय पर कुछ लिखते अथवा कहते, उसके पूर्व उस विषय पर गहन चिंतन मनन किया करते थे। इसलिए आज भी उनकी ठोस स्थापनाओं को अस्वीकार करना अधिकांश विद्वानों के लिए सोचने का विषय बन जाता है। आज का प्रत्येक समीक्षक उनकी स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता के लिए श्रद्धा से नतग्रीव हो जाता है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इसी विशेषता को अपने जीवन्त शब्दों में कहा है—'वे तन कर कहते हैं—'मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवा नहीं। फिर भी शुक्लजी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसन्द नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। शुक्लजी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है।'[4]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८८

२ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६०

३ त्रिवेणी, पृ० १००

४ हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १४७

किसी की झूठी निन्दा-स्तुति करना श्रेष्ठ आलोचक का गुण नहीं हो सकता। शुक्लजी ने इस बात का विशेष ध्यान रखा और जहाँ साहित्य स्रष्टा की अच्छाइयों को पाठकों के सम्मुख रखा वहीं उनकी त्रुटियों और कमियों का भी निःसंकोच उद्घाटन किया। पण्डितजी की सूक्ष्म दृष्टि गुण-दोष को ढूँढ़ निकालने में सर्वदा समर्थ रही है। इन्होंने सूर, तुलसी, जायसी प्रभृति कवियों की समीक्षाओं में केवल उनकी काव्य विशेषताओं को ही सामने लाकर नहीं रखा, प्रत्युत उनकी कमियों की ओर भी सहृदय पाठकों का ध्यान केन्द्रित किया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो उनका 'कुछ खटकने वाली बातें'[1] शीर्षक निबन्ध है जिसमें उन्होंने अपने आदर्श कवि गोस्वामी तुलसीदास की त्रुटियों का उद्घाटन किया है। इसी प्रकार जब सूर के वियोग वर्णन में उन्हें परिस्थितियों की गम्भीरता नजर नहीं आई तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"सूर का वियोग वर्णन वियोग वर्णन के लिए ही है परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते करते किसी कुञ्ज या झाड़ी में जा छिपते हैं या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं, बस गोपियाँ मूर्च्छित हो गिर पड़ती हैं।"[2] आलोचना के लिए शुक्लजी के अपने मानदण्ड थे जिनका निर्भीकतापूर्वक प्रयोग उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में किया है। लोकमंगल और मर्यादा की भावना जिन कवियों में नहीं पाई गई, वे कभी उनकी दृष्टि में शीर्षस्थ नहीं हो सके। यद्यपि जायसी के पद्मावत को इतने प्रकाश में लाने का श्रेय शुक्लजी को ही है किन्तु इन्होंने जायसी की व्यावहारिक त्रुटियों का उल्लेख भी स्थान स्थान पर किया है। देखिए—"कुम्भलनेर का राजा देवपाल रूप, गुण, ऐश्वर्य पराक्रम प्रतिष्ठा किसी में भी रत्नसेन की बराबरी का न था, अतः उसका दूती भेजकर पद्मावत को बहकाने का प्रयत्न गड़ा हुआ खम्भा धकेलने का बाल प्रयत्न सा लगता है। इस घटना के सन्निवेश से पद्मावती के सतीत्व की उज्ज्वल कान्ति में और अधिक ओप चढ़ती दिखाई नहीं देती।"[3]

शुक्लजी ने छायावाद और रहस्यवाद की खुलकर खिल्लियाँ उड़ाई हैं क्योंकि ये साहित्यिक वाद उनकी दृष्टि में काव्य को जीवन से दूर हटा ले जाने का कार्य करते हैं। केवल कल्पना लोक में सञ्चरण करने वाले साहित्य को शुक्लजी की आशंसा कभी प्राप्त नहीं हो सकी। शुक्लजी की दृष्टि में साहित्यकारों का समाज के प्रति विशेष दायित्व होता है जिससे मुकरने वाले तथाकथित साहित्यकारों को शुक्लजी ने कभी क्षमा नहीं किया। साहित्यकार के सामाजिक दायित्व को लेकर पाश्चात्य जगत के एक विद्वान ने

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १८८

२ त्रिवेणी, पृ० ७८

भी ऐसी ही बात कही है।[1] साहित्य में प्रचलित हो रहे अनेक नये 'वादों' से शुक्लजी अत्यंत असंतुष्ट थे जिनके विरोध में उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा—"सच्ची कविता किसी वाद को लेकर नहीं चलती, जगत् की अभिव्यक्ति को लेकर चलती है। वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है।"[2]

पाश्चात्य 'नूतन सृष्टि निर्माण करने वाली कल्पना' और 'व्यक्तिवाद' के उग्र रूप को लेकर चलने वाले साहित्य क्षेत्र को शुक्लजी ने 'नकली हृदयों का एक कारखाना' कहा है जिसमें 'और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत से लोग एक एक कारपनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे हैं।'[3] लेकिन शुक्लजी की इसी निर्भीकता ने जब-जब और जहाँ जहाँ उग्र रूप धारण किया है, वहीं यह विशेषता उनकी साहित्यिक सीमा बन गई है।

— o —

१ 'Art is not created in vacuum. It is the work, not simply of a person but of an author fixed in time and space, answering to a community of which he is an important, because articulate part.' Five Approaches of Literary Criticism, Wilber S. Scott, p. 123

२ चिंतामणि, भाग २, पृ० ६७

३ रस मीमांसा, पृ० ३२२

अध्याय ६

समीक्षा के आग्रह

शुक्लजी को हिन्दी समीक्षा के राजपथ निर्माण का श्रेय देना सर्वथा उचित है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनकी समीक्षा पद्धति सर्वथा निर्दोष है। उन्होंने एक ओर हिन्दी आलोचना को ठोस धरातल मनोवैज्ञानिक दृष्टि और नई दिशा प्रदान की तथा उसके स्वरूप निर्धारण का भगीरथ प्रयत्न कर उसे स्थायित्व प्रदान किया, तो दूसरी ओर वे अपने पूर्वाग्रहों रुचिवैभिन्य और एकांगी दृष्टिकोण से मुक्त नहीं रह सके। अनेक स्थलों पर शुक्लजी के व्यक्तिगत आग्रह उभर आये हैं और निष्पक्षता का निर्वाह नहीं हो सका है। इतना होने पर भी शुक्लजी की सीमाएँ उनकी विशेषताओं के सामने छिप सी जाती है। समुद्र में जहाँ असंख्य रत्नादि हुआ करते हैं वहीं कुछ घोंघे आदि का पाया जाना कोई आश्चर्यजनक और असंगत बात नहीं।

शुक्लजी का तुलसी विषयक पूर्वाग्रह—शुक्लजी की समालोचक दृष्टि जहाँ अत्यन्त व्यापक और मर्मस्पर्शी थी वहीं कुछ उनके आग्रह भी थे जो शुक्लजी पर किसी हद तक हावी हो चुके थे। तुलसी और उनके 'मानस' के प्रति शुक्लजी के आग्रह को झुठलाया नहीं जा सकता। तुलसी उनके आदर्श कवि थे और 'रामचरितमानस' उनका आदर्श काव्य। तुलसी के काव्यादर्शों को उन्होंने आलोचना के प्रमुख मानक के रूप में स्वीकार किया। तुलसी से बढ़कर उनकी दृष्टि में हिन्दी साहित्य में और कोई कवि नहीं हुआ। उनकी दृष्टि में सूर जैसे कवि भी तुलसी से नीचे के दरजे के ही हैं। उनका कहना है "न जाने किसने 'यमक' के लोभ में यह दोहा कह डाला कि 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास।' यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारतहृदय, भारतीकण्ठ, भक्तचूडामणि गोस्वामी तुलसीदास।"[१]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १९१

शुक्लजी की दृष्टि म केशव बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिए रखना उसका अपमान करना है।[१] शुक्लजी ने तुलसी के दुबल पक्षो की सदैव रक्षा की है। तुलसी के मानस मे स्त्रियो की निन्दा विशेष रूप से की गई है जिसे शुक्लजी भी स्वीकार करते है। किन्तु, वे बडी सरलता और सफाई के साथ तथ्य को छिपाने का प्रयत्न करते दिखाई देते है 'उन पर स्त्रियो की निन्दा का महापातक लगाया जाता है पर यह अपराव उन्होने अपनी विरति की पुष्टि के लिए किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए ।[२] अत स्त्रियो के सम्बन्ध म गोस्वामीजी ने कहा है, वह सिद्धान्त वाक्य नही है, अथवाद मात्र है।[३]

शुक्लजी की तुलसी विपयक सफाई इससे भी अधिक वहा देखी जा सकती है जहाँ वे ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी ये सब ताडन के अधिकारी, चौपाई की व्याख्या कर अपना निष्कर्ष देते है 'चिढने का कारण है 'ताडन' शब्द, जो 'ढोल' शब्द के योग म आलकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लाया गया है। स्त्री' का समावेश भी सुरुचि विरुद्ध लगता है पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।'[४] और तो और, भरत का अपनी माता के प्रति ऐसा कथन कि 'बर मागत मन भई न पीरा, गरि न जीह मुह परेउ न कीरा—शुक्लजी को मनोहर और सगत प्रतीत होता है। उनका कहना है ग्लानि के साथ अमप का सयोग हो जाता है। उसकी पवित्रता के सामन माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पडती है।[५] यह सब शुक्लजी का तुलसी के प्रति पूवाग्रह ही है। वैसे तो शुक्लजी ने तुलसीदासजी की कमियो का उद्घाटन 'कुछ खटकने वाली बातें' शीपक निबन्ध म किया है किन्तु हम उसमे कोई विशेष खटकने वाली बात नजर नही आती। जो वस्तुत खटकने वाली बातें है, शुक्लजी ने उन पर दृष्टि ही नही डाली है और अगर डाली भी है, तो आग्रह के कुहरे म वह तथ्य को पकडने म असमर्थ सी रही है। एक बात और, शुक्लजी कभी यह स्वीकार नही कर सकते कि कोई दूसरा व्यक्ति तुलसी पर आरोप लगाये। यदि कोई पाठक 'मानस के कुछ प्रसगो से ऊब जाता है तो दोप पाठक का ही है, तुलसी का नही। देखिए कुछ लोग 'रामचरितमानस मे राम के प्रत्येक कम पर देवताओ का फूल बरसाना देखकर ऊबते से हैं। उन्ह समझना चाहिए कि गोस्वामीजी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है जिस पर तीनो लोक की दृष्टि लगी

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १९०

२ वही, पृ० ५५

३ वही, पृ० ५६

४ वही, पृ० ५८

५ वही, पृ० १०८

रहती है। कृष्ण का गोचारण और रासलीला आदि देखने को भी देवता एकत्र हो जात है, पर केवल तमाशबीन की तरह।[१]

शुक्लजी के तुलसी विषयक आग्रह को वहाँ भी देखा जा सकता है जहाँ वे तुलसी का नाम आने पर उनकी विशेषताओं की झडी लगाने लगत हैं अथवा किसी अन्य कवि की आलोचना करते करत तुलसी की प्रशसा म भी दो चार पक्तियाँ लिख डालते हैं। सूर की आलोचना म तुलसी की प्रशसा की घुसपैठ देखिए "सूरसागर की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की 'गीतावली मौजूद है, पर 'रामचरितमानस और 'कवितावली' की शैली की सूर की कोई कृति नही है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य जीवन की जितनी अधिक दशाए, जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं, उतनी सूर ने नही। तुलसी न अपन चरित्र चित्रण द्वारा जसे विविध प्रकार के ऊँचे आदश खडे किय है वैसे सूर ने नही। तुलसी की प्रतिभा सवतोमुखी है और सूर की एकमुखी।"[२]

जायसी विषयक आग्रह—यद्यपि शुक्लजी का जायसी के प्रति उतना आग्रह नही था जितना तुलसी क प्रति रहा है, तथापि बहुत से स्थलो पर जायसी के प्रति उनके आग्रह की रेखाएँ स्पष्ट नजर आती है, जसे बिहारी के काव्य की अतिरजनाओ को तो वे मजाक की हद तक पहुँची मानते है और वे स्थान स्थान पर उनकी खिल्ली भी उडाते हैं, किन्तु जायसी की अतिरजनाओ को वे युक्तिसगत और साथक मानत है। जायसी की अत्युक्तियो के सम्बन्ध म व लिखते हैं "इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नही जान पडती, हृदय की अत्यन्त तीव्र वदना के शब्द-सकेत प्रतीत होती हैं। उनके अन्तगत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है, वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते है। बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापन वाल मानदण्ड मात्र नही।"[३]

जायसी के विरह वणन मे भी अनक वीभत्स चित्र उपस्थित हुए हैं। कई स्थलो पर 'रक्त के आँसू', 'तोला माँस' और सूखी हड्डिया का उल्लेख हुआ है, किन्तु शुक्लजी न उसकी इतनी भीषण और कटु आलोचना नही की है जितनी बिहारी और केशव की।

सगुण भक्ति-विषयक आग्रह—निर्गुण की अपक्षा सगुण काव्यधारा को शुक्लजी की विशेष आस्था प्राप्त हुई। निर्गुण कवियो की विस्तृत आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखन म शुक्लजी का मन नहीं रम पाया है इसका प्रमाण उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' है। किन्तु सूर और तुलसी पर उनकी लिखी विशेष लम्बी-चौडी भूमिकाओ

१ भ्रमरगीतसार, पृ० ६
२ वही, पृ० २९
३ त्रिवेणी, सपा० कृष्णानद, पृ० ४०

(जो अपने आप में स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप भी है) से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सगुण काव्य के प्रति उनका आग्रह था। सगुण भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन शुक्लजी ने बहुत से स्थलों पर किया है। इसी पूर्वाग्रह के कारण तुलसी और सूर उनके प्रिय कवि हो सके।

प्रबन्धकाव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण—इसी प्रकार, शुक्लजी का प्रबन्धकाव्यों के प्रति विशेष आग्रह रहा है। वे मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य को विशेष महत्त्व देते हैं। उनका ऐसा विचार है कि मार्मिक स्थलों का जितना सुन्दर और विशद वर्णन प्रबन्धकाव्य में सम्भव है, उतना मुक्तक काव्य में नहीं। वे प्रबन्ध और मुक्तक काव्य का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि 'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वन स्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।'[1] शुक्लजी की व्यावहारिक समीक्षा में प्रबन्धकाव्य सम्बन्धी आग्रह को स्पष्ट देखा जा सकता है। वैसे तो उन्होंने उत्कृष्ट कोटि के मुक्तक काव्य की भी प्रशंसा की है किन्तु जितनी प्रशंसा प्रबन्धकाव्य को उनसे प्राप्त हुई है, उतनी मुक्तक काव्य को नहीं। प्रबन्ध रचयिता तुलसी और जायसी के काव्य में शुक्लजी का मन अधिक रमा है जबकि मुक्तक कवि सूर और बिहारी पर उनकी कृपादृष्टि उतनी नहीं रही है।

प्रकृति प्रेम और तद्विषयक आग्रह—शुक्लजी काव्य में प्रकृति तत्त्व की उपेक्षा को दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। प्रकृति चित्रण को केवल उद्दीपन की सामग्री समझने वालों को वे रुचिभ्रष्ट और संस्कार सापेक्ष बताते हैं। हिन्दी कविता के दुर्भाग्य का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं 'खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसी से हिन्दी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है।'[2] प्रकृति के खुले विस्तार को शुक्लजी ने आलम्बन रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। जिन कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का मार्मिक चित्रण किया, वे ही शुक्लजी की दृष्टि में कुछ स्थान पा सके और प्रशंसा के दो शब्द उनकी लेखनी से लिखवा सके। तुलसीदासजी के प्रकृति प्रेम के सम्बन्ध में शुक्लजी लिखते हैं "हिन्दी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी बहुत है तो गोस्वामी तुलसीदास में ही।"[3]

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७
२ चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२
३ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १०

इसी प्रकृति क्षेत्र की उपेक्षा के फलस्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आलोचना करते हुए शुक्लजी कहते हैं "इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा उसे उसी के उठाये हुए घेरे में रखकर देखा। मनुष्य की सृष्टि को उसके फैलाए हुए प्रपंचावरण से बाहर, प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की ओर ले जाने का प्रयास इन्होंने नहीं किया।"[1] शुक्लजी ने कविता और सृष्टि प्रसार को एक-दूसरे से सम्बद्ध माना है। कविता में यदि प्रकृति विस्तार का आश्रय नहीं मिला तो उसका रचयिता कवि श्रेष्ठ कोटि में नहीं आ सकता। शुक्लजी के अनुसार तो 'कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी।'[2]

प्रकृति के प्रति इतना रागात्मक भाव भी आग्रह की कोटि में आ जाता है और इसी आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह प्रकृति प्रेम शुक्लजी की समीक्षा-सीमा के अन्तर्गत रखा गया है।

नूतन काव्य दृष्टि के प्रति असहिष्णुता—शुक्ल समीक्षा की एक सीमा यह भी रही है कि वे नवीनता के प्रति उपेक्षा-सी रखते हैं। साहित्य में प्रचलित नये नये वादों, नई नई साहित्यिक प्रवृत्तियों और शैलियों को अधिक महत्त्व नहीं देते। वे ऐसे क्षणभंगुर प्रवाहों को शाश्वत साहित्य के लिए दुर्भाग्यपूर्ण मानते थे। आजकल चल रहे इसी रवैये की ओर संकेत करते हुए शुक्लजी कहते हैं काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता मात्र रह गई है। कविता चाहे हो, चाहे न हो, कोई नवीन रूप या रंग ढंग अवश्य खड़ा हो। पर, कोरी नवीनता केवल मरे हुए आंदोलन का इतिहास छोड़ जाय, तो छोड़ जाये, कविता नहीं खड़ी की जा सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बड़ी बड़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है।'[3] पाश्चात्य साहित्य जगत में उमड़ते और मिटते साहित्यिक वादों का भारतीय साहित्य में जो अन्धानुकरण हो रहा है, शुक्लजी ने उसकी भर्त्सना की है और उससे सावधान तथा सचेत रहने का आग्रह किया है "आजकल पाश्चात्य वाद वृक्षों के बहुत-से पत्ते कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाये हुए—यहाँ पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित किये जाने लगे हैं जिससे उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं। पर यह बात हो नहीं रही है।'[4] किसी नई विचार-

---

१ चिंतामणि, भाग १ पृ० १९४
२ वही पृ० १४६
३ वही पृ० २४०-२४१
४ वही, भाग २, पृ० १६५

धारा के प्रति इस प्रकार का विरोध समीक्षक की सहानुभूतिहीन दृष्टि का परिचायक है।

छायावाद एवं रहस्यवाद की आलोचना—'मानस का अवगाहन करने वाले शुक्लजी शायद छायावाद एवं रहस्यवाद को भली भाँति समझ नहीं पाये। छायावाद और रहस्यवाद को जो आशंसा शुक्लजी से अभिप्रेत थी, वह इन्हें मिल नहीं सकी। छायावादी काव्य की समीक्षा करते हुए शुक्लजी ने खीजकर कहा है "हमारे नवीन हिन्दी साहित्य क्षेत्र में 'गाँव में नया आया ऊँट' हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिए श्रीयुत रवीन्द्र, प्रकृति के क्रीड़ास्थल से लेकर नाना मूर्त स्वरूप खड़ा करते हैं, वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखने वाले बहुतेरे ऊटपटांग चित्र खड़ा करने और कुछ असम्बद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गये हैं।"[1]

छायावाद को 'ऊटपटांग' और 'असम्बद्ध प्रलाप' कहना शुक्लजी की कठोर एवं संकीर्ण दृष्टि का परिचायक है। रहस्यवाद में जिस अज्ञात सत्ता से मिलने की आकुलता का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है, शुक्लजी उसे बकवास से अधिक नहीं समझते, तभी तो वे लिखते हैं "अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय सा ताण्डव करने या मुँदे नयन की पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—भी तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहाँ तक ठीक है? चारों ओर से बेदखल होकर छोटे छोटे कनकौओं पर भला कविता कब तक टिक सकती है।"[2]

शुक्लजी ने रहस्यवाद में केवल अप्रस्तुत आरोप और हृदय की लम्बी चौड़ी उछल कूद देखी है वे उसकी आत्मा को नहीं पहचान सके। उनकी दृष्टि ज्ञात अज्ञात को केवल एक ओट या बहाना मात्र समझ सकी। यदि शुक्लजी का मन प्रचलित वादों के प्रति इतना उपेक्षा का भाव नहीं होता, तो शायद वे ऐसा नहीं कहते "बंगभाषा के काव्यक्षेत्र में तो एक माने ही में इस रहस्यवाद—छायावाद की तंत्री बजी, मराठी, गुजराती को हर एक विलासी ताल सुर पर नाचने की आदत नहीं, पर हिन्दी में तो इसकी नकल का तूफान सा आ गया।"[3]

अपनी सीमाओं के बावजूद छायावाद रहस्यवाद ने हिन्दी काव्य की श्रीवृद्धि में जो योगदान किया है, उसे इस प्रकार नकार देना उचित नहीं कहा जा सकता।

---

१ भ्रमरगीतसार पृ० २०

२ चिन्तामणि (भाग २), पृ० ५६

३ वही, पृ० १०८-१२२।

'कलावाद-सम्बन्धी दृष्टिकोण—छायावाद और रहस्यवाद के समान ही कलावाद की भर्त्सना शुक्लजी ने बडी निर्ममता के साथ की है 'कला, कला के लिए' के प्रवर्तकों और समर्थकों पर उन्होंने बहुत ही तीखे व्यंग्य बाण छोडे है। उन्होंने नूतन रूप-सर्जना विषयक कलावादी सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए लिखा है "'कलावादी जिसे नूतन सृष्टि कहते हैं वह स्वतन्त्र और स्थिर दृष्टिवालों के निकट वास्तविक का विकृत रूप मात्र है—ऐसा विकृत रूप जो प्राय कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाता है। हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श नहीं करता कोई सच्ची और गम्भीर अनुभति नहीं जगाता।[१]

शुक्लजी कविता के माध्यम से समाज को स्वप्निल लोक दिखाना पसन्द नहीं करते थे, वरन वे तो साहित्य को जागरण के शखनाद का शाश्वत स्वरूप बनाना चाहते थे। यह सब उनका आदर्श था, अपनी मान्यता थी, जिसे अस्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु अपने आदर्शों को इतनी लम्बी डोर दे देना उचित नहीं कहा जा सकता जो दूसरे दृष्टिकोणों को बाँधती चली जाय, अन्य व्यक्तियों के विचारों को भली भाँति समझने में भी बाधक बन जाय। शुक्लजी की दृष्टि में " 'कला कला के लिए अथवा 'काव्य कल्पना का लोक है ये सब बेल बूटेवाली हलकी धारणा के कच्चे बच्चे है।[२] उन्होंने रसवाद के आग्रह में वशीभूत होकर कलावाद की उपेक्षा भी की है। शुक्लजी की समीक्षा में शुद्ध सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण कम पाया जाता है। इधर 'शिव' को उनकी समीक्षा में इतना अधिक स्थान मिला है कि वह 'सुन्दर' की सीमा बन गया है। इसके फलस्वरूप साहित्य जगत् में इनके विरुद्ध एक असन्तोष जागरित हुआ जिसने शुक्लजी की मान्यताओं को पीछे ढकेल देने का साहस किया। शुक्लजी को 'कला' शब्द से ही इतनी चिढ हो गई थी कि वे उसे साहित्य क्षेत्र से बाहर निकालने की बात कहने लगे "सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है इधर हमारी हिन्दी में काव्य समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत उद्धरणी होने लगी। मेरे कथन में तो हमारे मान्य समीक्षा क्षेत्र में जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसकी जड पकडना ठीक नहीं है।'[३] शुक्लजी को इतना सब कुछ कह देने पर चैन नहीं पडा, तभी तो वे बार बार पुरजोर शब्दों में कहते है "मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है, तो उसका 'पीछा इस कला शब्द से जहाँ तक हो शीघ्र छुडाया जाय।"[४]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७८

२ चिन्तामणि भाग २, पृ० १६९

३ वही, पृ० १८०

४ वही, पृ० २१८

धारा के प्रति इस प्रकार का विरोध समीक्षक की सहानुभूतिहीन दृष्टि का परिचायक है।

छायावाद एव रहस्यवाद की आलोचना—'मानस का अवगाहन करने वाले शुक्लजी शायद छायावाद एव रहस्यवाद को भली भाँति समझ नही पाये। छायावाद और रहस्यवाद की जो आशसा शुक्लजी से अभिप्रेत थी वह इन्हें मिल नही सकी। छायावादी काव्य की समीक्षा करते हुए शुक्लजी ने खीजकर कहा है 'हमारे नवीन हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भाव में नया आया ऊँट हो रहा है। बहुत से नवयुवको को अपना एक नया ऊँट छोडने का हौसला हो गया है। जैसे भावो या तथ्यो की व्यजना के लिए श्रीयुत रवीन्द्र, प्रकृति के क्रीडास्थल से लेकर नाना मूर्त स्वरूप खडा करते है, वैसे भावो को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखने वाले बहुतेर ऊटपटाग चित्र खडा करने और कुछ असम्बद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद की कविता' समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड गये है।'[1]

छायावाद को ऊटपटाग और 'असम्बद्ध प्रलाप' कहना शुक्लजी की कठोर एव सकीर्ण दृष्टि का परिचायक है। रहस्यवाद में जिस अज्ञात सत्ता में मिलने की आकुलता का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है शुक्लजी उसे बकवास से अधिक नही समझते, तभी तो वे लिखते है "अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आसुओ की आकाशगगा में तैरने, हृदय की नसो का सितार बजाने, प्रियतम असीम के सग नग्न प्रलय सा ताण्डव करने या मुंदे नयनो की पलको के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने का ही—भी तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहा तक ठीक है? चारो ओर से बेदखल होकर छोटे छोटे कनकौओ पर भला कविता कब तक टिक सकती है।'[2]

शुक्लजी ने रहस्यवाद में केवल अप्रस्तुत आरोप और हृदय की लम्बी चौडी उछल कूद देखी है वे उसकी आत्मा को नही पहचान सके। उनकी दृष्टि ज्ञात अज्ञात को केवल एक ओट या बहाना मात्र समझ सकी। यदि शुक्लजी का नये प्रचलित वादो के प्रति इतना उपेक्षा का भाव नही होता, तो शायद वे ऐसा नही कहते बगभाषा के काव्यक्षेत्र के तो एक कोने ही में इस रहस्यवाद—छायावाद की तत्री बजी, मराठी, गुजराती को हर एक विलासी ताल सुर पर नाचने की आदत नही, पर हिन्दी में तो इसकी नकल का तूफान सा आ गया।[3]

अपनी सीमाओ के बावजूद छायावाद रहस्यवाद ने हिन्दी काव्य की श्रीवृद्धि में जो योगदान किया है उसे इस प्रकार नकार देना उचित नही कहा जा सकता।

---

१ भ्रमरगीतसार, पृ० २०

२ चिन्तामणि (भाग २) पृ० ५६

३ वही, पृ० १०८ १२२।

'कलावाद'-सम्बन्धी दृष्टिकोण—छायावाद और रहस्यवाद के समान ही कलावाद की भर्त्सना शुक्लजी ने बड़ी निर्ममता के साथ की है 'कला, कला के लिए' के प्रवर्तकों और समर्थकों पर उन्होंने बहुत ही तीखे व्यंग्य बाण छोड़े हैं। उन्होंने नूतन रूप-सर्जना विषयक कलावादी सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए लिखा है "'कलावादी' जिसे नूतन सृष्टि कहते हैं वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टिवालों के निकट वास्तविक का विकृत रूप मात्र है—ऐसा विकृत रूप जो प्रायः कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाता है। हृदय के ममस्थल का स्पर्श नहीं करता, कोई सच्ची और गम्भीर अनुभूति नहीं जगाता।'[१]

शुक्लजी कविता के माध्यम से समाज को स्वप्निल लोक दिखाना पसन्द नहीं करते थे, वरन् वे तो साहित्य को जागरण के शंखनाद का शाश्वत स्वरूप बनाना चाहते थे। यह सब उनका आदर्श था, अपनी मान्यता थी, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु अपने आदर्शों को इतनी लम्बी डोर दे देना उचित नहीं कहा जा सकता जो दूसरे दृष्टिकोणों को बाँधती चली जाय, अन्य व्यक्तियों के विचारों को भली-भाँति समझने में भी बाधक बन जाय। शुक्लजी की दृष्टि में, " 'कला, कला के लिए' अथवा 'काव्य कल्पना का लोक है' ये सब बेल-बूटेवाली हलकी धारणा के कच्चे बच्चे हैं।"[२] उन्होंने रसवाद के आग्रह से वशीभूत होकर कलावाद की उपेक्षा भी की है। शुक्लजी की समीक्षा में शुद्ध सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण कम पाया जाता है। इधर 'शिव' को उनकी समीक्षा में इतना अधिक स्थान मिला है कि वह 'सुन्दर' की सीमा बन गया है। इसके फलस्वरूप साहित्य जगत् में इनके विरुद्ध एक असन्तोष जागरित हुआ जिसने शुक्लजी की मान्यताओं को पीछे डाल देने का साहस किया। शुक्लजी को 'कला' शब्द से ही इतनी चिढ़ हो गई थी कि वे उसे साहित्य क्षेत्र से बाहर निकालने की बात कहने लगे "सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है इधर हमारी हिन्दी में काव्य समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत उद्धरणी होने लगी। मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र में जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसकी जड़ पकड़ना ठीक नहीं है।'[३] शुक्लजी को इतना सब कुछ कह देने पर चैन नहीं पड़ा, तभी तो वे बार बार पुरजोर शब्दों में कहते हैं "मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है, तो उसका पीछा इस 'कला' शब्द से जहाँ तक हो, शीघ्र छुड़ाया जाय।'[४]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७८

२ चिन्तामणि भाग २, पृ० १६९

३ वही, पृ० १८०

४ [illegible]

अभिव्यंजनावाद और शुक्लजी —क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी शुक्लजी के आदर्शों की तुला पर ठीक नहीं उतर सका। इसलिए, उसे भी कटु आलोचना का सामना करना पड़ा। वे उक्त वाद की गहराई तक नहीं पहुँच सके। अभिव्यंजनावाद में शुक्लजी ने रचना प्रक्रिया और सौन्दर्य विधान के स्थान पर केवल वाग्वैचित्र्य और उक्ति वैविध्य ही देखा। जैसा कि उनके इस कथन से स्पष्ट है—'अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चला है पर वाग्वैचित्र्य का हृदय से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार हो यदि कविता बनने लगे तो उसमें विलक्षण विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए न विचारधारा, न भावों की रसधारा।'[1] उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को 'वितण्डावाद'[2] तक कह डाला।

शुक्ल समीक्षा की एक सीमा यह भी रही है कि वे प्रायः सर्वत्र भाषा सम्बन्ध और कल्पना व्यापार का पार्थक्य मानकर चले हैं जबकि वस्तुतः ये दोनों पक्ष एक दूसरे में अविच्छिन्न रूप में सम्बद्ध हैं। यदि कल्पना में समाहार शक्ति है, तो भाषा में समास शक्ति स्वतः आ जायगी। कल्पना के उद्बुद्ध होने पर भाषा में किस प्रकार जीवन संचार होने लगता है इसका उदाहरण स्वयं शुक्लजी की उन पंक्तियों में मिल सकता है जिसमें चिन्तन कल्पना में ढल गया है। सूरदास की समीक्षा करते समय वे लिखते हैं—'जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कण्ठ में प्रकट हुई और आगे चलकर करील कुंजों के बीच फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।'[3]

वे जब जब कल्पना अथवा भाव सौन्दर्य की बात करते हैं, तब तब भाषा सौन्दर्य को अलग से व्यक्त करने के प्रयत्न में जुट जाते हैं। भाषा सौन्दर्य को वे कल्पना सौन्दर्य के सम्मुख नीचे दरजे का समझते हैं। बहुत सम्भव है उनके मन में भाषा चमत्कार की बात आते ही केशव का काव्य उनके कल्पना नेत्रों के समक्ष आ जाता हो। जायसी की नागमती के विरह वर्णन में भाव सौन्दर्य की बात व्यक्त करने के 'संदेसड़ा' शब्द में 'ड़ा' प्रत्यय के सुन्दर प्रयोग की बात कहते हैं। अभिव्यंजनावाद ने इसी कल्पना सौन्दर्य और अभिव्यंजना सौन्दर्य को एक दूसरे से सम्बद्ध मानते हुए अपने सिद्धान्त रखे हैं।

---

१ चिन्तामणि, भाग २ पृ० ९७

२ वही पृ० १७९

३ भ्रमरगीतसार, पृ० १

शुक्ल-समीक्षा की अगतिकता—शुक्लजी की समीक्षा पद्धति में परिस्थिति और युगानुरूप परिवर्तन और परिवृद्ध न नहीं दिखाई देता। उनके समीक्षा सिद्धान्त कठोर हैं जिनमें लचक की कोई गुंजाइश नहीं। भक्ति-कालीन साहित्य के लिए उन्होंने जिस मर्यादा, नैतिकता और लोकमंगल को आलोचना मान के रूप में स्वीकार किया उन्हीं मानों का प्रयोग उन्होंने रीतिकालीन और आधुनिक साहित्य की समीक्षा के लिए किया, जिसके फलस्वरूप वे रहस्यवाद और छायावाद का समुचित मूल्यांकन नहीं कर सके। समीक्षक में ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि या तो वह युग का पथ प्रदर्शक बने अथवा युग का वास्तविक चित्र उपस्थित करे। पहले तो शुक्लजी ने युग को अपने पीछे पीछे चलाया, समीक्षा-जगत को नये नये आयाम और नये नये मोड़ दिये किन्तु बाद में वे स्वयं युग की दौड़ में पिछड़ गये। उनकी अपनी ही स्थापनाएँ उन पर इतनी हावी हो गईं कि वे उनसे हटकर देख ही नहीं सके। जब समीक्षा में 'सौन्दर्य तत्त्व' की अधिक चर्चा होने लगी तब शुक्लजी ने सौन्दर्य-तत्त्व को 'मंगल तत्त्व' का ही पर्याय बताया। यह उनकी समीक्षा की अगतिकता है। वे सौन्दर्य तत्त्व को अलग से अस्तित्व देना नहीं चाहते। शुक्लजी लिखते हैं "कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौन्दर्य भी मंगल का पर्याय है। जो लोग केवल शान्त और निष्क्रिय (स्टैटिक) सौन्दर्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं, वे कविता को जीवन क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।"[1]

कविता को जीवनोपयोगी बनाने का आग्रह उन्होंने मरते दम तक नहीं छोड़ा। एक सीमा तक वे स्वयं उपदेशक बन गये और उन्हें तुलसी की उपदेशात्मक वृत्ति भी अच्छी लगती थी। 'मानस' की उपदेशात्मक योग्यता को लेकर वे लिखते हैं "इसी ग्रंथ में जनसाधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य, आनन्दोत्सव में उत्साह, कठिन परिस्थिति को पार करने का बल—सब कुछ प्राप्त होता है।"[2] किन्तु बदलते हुए युग को यह उपदेशात्मक वृत्ति अखरने लगी थी, शुक्लजी ने इसकी चिन्ता नहीं की।

एकपक्षीय दृष्टि—शुक्लजी की समीक्षाओं में बहुधा एकपक्षीय दृष्टिकोण देखने को मिलता है। वे जब जब भावपक्ष का उद्घाटन करने लगते हैं, लोकमंगल का गुणगान करने बैठते हैं, तब तब वे भूल जाते हैं कि लोकरंजन भी साहित्य का विषय है और वह लोकमंगल के समान ही जीवन में महत्त्वपूर्ण भी है। एकांगिता और एकपक्षीय दृष्टि को स्वयं शुक्लजी ने साहित्यिक कनकौआ उड़ाना कहा है किन्तु वे स्वयं इससे असम्पृक्त नहीं रह सके हैं। इधर, शुक्लजी की समीक्षाओं का क्षेत्र अधिकतर काव्य जगत रहा है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को छोड़कर गद्य साहित्य की तो प्रायः उपेक्षा सी की है। शुक्लजी जैसे सुधी और प्रौढ़ आलोचक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे साहित्य

---

१ चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४७

२ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८०

की विविध विधाओ पर भी प्रकाश डाला। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पुस्तक म साहित्य की अन्य विधाओ पर भी थोडा बहुत शुक्लजी ने लिखा है, किन्तु वहाँ अधिक विस्तार के लिए अवकाश नही था।

परम्परा और परिवेश की अत क्रिया की उपेक्षा—शुक्ल समीक्षा म युगीन परिस्थितियो को अधिक स्थान मिला है, जबकि परम्परा की ओर कम ध्यान दिया गया है। उन्होने अपने 'इतिहास' के काल विभाजन का आधार साहित्य-समीक्षा के पूर्व तदयुगीन परिस्थितियो के अध्ययन को माना। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि परिवेश एव परिस्थिति के साथ साथ परम्परा भी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। शुक्लजी भक्तियुग के आविर्भाव के सम्बन्ध म लिखते है कि "देश का यह नैराश्य-काल था जिसमे भगवान के सिवा और कोई सहारा नही दिखाई देता था। भक्ति और प्रेम के रग म देश ने अपना दु ख भुलाया, उसका मन बहला।" शुक्लजी इसी स्थान पर चूक गये है। भक्ति साहित्य तो हम सस्कृत साहित्य की धरोहर के रूप म प्राप्त हुआ है। समय समय पर भक्ति साहित्य भारत म लिखा गया है, इसलिए यह कहना कि नैराश्य काल के कारण ही, भक्तिकाल का प्रादुर्भाव हुआ, बेतुकी बात लगती है। साहित्य सृजन तो परम्परा और परिवेश की अत क्रिया के फलस्वरूप होता है। इन दोनो म किसी की भी उपेक्षा वाछित नही। इन दोनो तथ्यो पर समान दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है। केवल पृष्ठभूमि निरूपण म स्थूल ऐतिहासिकता को महत्त्व देना समीचीन नही कहा जा सकता। सम्भवत , शुक्लजी द्वारा स्थूल ऐतिहासिक परिस्थिति को अधिक महत्त्व दिये जाने के परिणामस्वरूप ही डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने परम्परा और सस्कृति का महत्त्व बताते हुए साहित्य के इतिहास का परम्परा विकास के रूप म नवरूपायन किया है।

निष्कर्ष—शुक्ल समीक्षा यद्यपि इतनी सीमाओ से घिरी है कि उसमे स्वभावत अपूर्णता रह गई है, तथापि हिन्दी-समीक्षा उनके दाय से कभी उऋण नही हो सकती। जब हिन्दी समीक्षा घुटनो के बल चलने म भी अपने आपको असमर्थ पा रही थी शुक्लजी ने उसे उँगली पकडकर चलाने का सफल प्रयास किया। उन्होने हिन्दी आलोचना को नये मान, नई दिशा और नया धरातल प्रदान किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा के पथ को आलोकित करते हुए उन्होने उसके राजपथ का निर्माण किया। शुक्लजी युगद्रष्टा और युगस्रष्टा समालोचक थे। उन जैसा समालोचक किसी भी भाषा साहित्य के लिए दिव्य वरदान सिद्ध हो सकता है। उनकी स्थापनाओ की चट्टान अटूट है। कोई भी साहित्यिक दिग्गज उसे ढाहने मे अपने आपको समर्थ नही पाता। उनके पाण्डित्य और अध्ययन के सम्मुख सभी नतमस्तक हो जाते है। हिन्दी समीक्षा म एक [illegible] द्वारा अनायास हो गया है। वस्तुत , शुक्लजी की सीमाए उनकी समीक्षा विशेषताओ के सामने धूमिल पड जाती है, गौण हो जाती हैं।